क्याप : संवेदना और शिल्प

एम. फिल. (हिन्दी) उपाधि हेतु प्रस्तुत लघु शोध-प्रबंध

2003

शोधनिर्देशक

डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल

शोधकर्त्ता

ऋषभ कुमार अग्रवाल

भारतीय भाषा केन्द्र

भाषा, साहित्य एवं संस्कृति अध्ययन संस्थान

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय

नई दिल्ली-110067

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
JAWAHARLAL NEHRU UNIVERSITY
NEW DELHI – 110067

DECLARATION

I declare that the work done in this dissertation entitled **"KYAP: SAMVEDANA AUR SHILP"** by me is an original work and has not been previously submitted for any other degree in this, or any other University / Institution.

Rishabh Kumar Agrawal

RISHABH KUMAR AGRAWAL
(Research Scholar)

DR. PURUSHOTTAM AGRAWAL
(Supervisor)
Centre of Indian languages school of language, literature and cultural studies.

PROF. NASEER AHMAD KHAN
(Chair person)
Centre of Indian languages school of language, literature and cultural studies.

माँ को–

जिसके होने से मैं हूँ

'जिससे मेरी प्रकृति, मेरी मिट्टी और मेरा समुद्र है'

अनुक्रम

		पृष्ठ–संख्या
प्राक्कथन		i–iii
अध्याय–1	स्वप्न के अंत का संकट–1	1–33
अध्याय–2	स्वप्न के अंत का संकट–2	34–50
अध्याय–3	मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी ?	51–73
अध्याय–4	कथ्य और शिल्प का अंतर्संबंध	74–87
संदर्भ–ग्रंथ–सूची : ग्रंथानुक्रम–		88–91

(क) आधार ग्रंथ

(ख) सहायक ग्रंथ

(ग) अन्य (अंग्रेजी) सहायक ग्रंथ

(घ) पत्रिकायें

प्राक्कथन

रचना का एक मिजाज संदेहवादी होता है गोकि संदेह ही सृजन हो अथवा ज्ञान का कलात्मक अनुभव हो। संदेह का अगला तर्क सविकल्प ज्ञान या विश्लेषणात्मक ज्ञान (Ratio) का होता है, उससे आगे संश्लेषणात्मक प्रज्ञा (Intellectus) और इसी क्रम में निर्विकल्प ज्ञान (Intuitio) या चरम सत्य उपलब्ध होता है। इस प्रकार संदेह एक रूप में 'दुःखशमनी शून्यता' या 'अभयपद' है क्यों कि वहाँ सत्य की उपस्थिति है। आज के जमाने में जहाँ मनुष्य की तर्क–शक्ति, व्यक्तित्व एवं आलोचनात्मक मस्तिष्क झुंड संस्कृति की गहरी चपेट में है; सत्य को अराजक रूप से विभाजित करके स्वप्न को विभाजित करने की सुचिंतित वैचारिक क्रिया स्थापित हो चुकी है, संदेह का एक माध्यम या प्रविधि के बतौर उपयोग करके ही साहित्य अपनी वास्तविक एवं सर्जनात्मक भूमिका निभा सकता है। मनोहर श्याम जोशी के यहाँ 'संदेह', 'सत्य' एवं 'स्वप्न' का उपर्युक्त श्लेष ही उस 'रेह्टारिक' को जन्म देता है जहाँ झूठी आशाओं का वाक्जाल नहीं है, बल्कि अपने समय–समाज की समीक्षा के बहाने उन्हीं आशाओं के 'यथार्थ' को जानने की कोशिश है। लेकिन इस क्रम में 'कुरू कुरू स्वाहा' से..... 'क्याप' तक बार–बार कुछ खंडित कुछ अपूर्ण ही हाथ आया है। क्योंकि यह 'सबसे खतरनाक' क्याप समय है–

"सबसे खतरनाक होता है/मुर्दा शांति से भर जाना
न होना तड़प का सब सहन करन जाना/घर से निकलना काम पर
और काम से लौटकर घर जाना/सबसे खतरनाक होता है
हमारे सपनों का मर जाना" (–पाश)

'क्याप' इस सबसे खतरनाक क्याप समय का यानि 'बीसवीं सदी की उस सडांध का दिल दहला देने वाला दस्तावेज' है, जहाँ 'हर देशवासी का मानस सदा आधा तीतर आधा बटेर बन कर रह गया हो'। जब कि 'क्याप' को 'कुरू कुरू स्वाहा' के 'एनो मीनिंग सू' और 'कसप' के 'क्या जाने' के क्रम–जवाब के तौर पर पढ़ा जा सकता है– 'कुछ अजीब, अनगढ, अनदेखी सी, अप्रत्याशित' लेकिन यह 'क्याप' की अलग उपलब्धि है कि जोशी जी यहाँ अपनी 'मध्यवर्गीय' छानबीन की चौहद्दी से बहुत आगे निकलकर 'शताब्दी विमर्श' जैसा रुपक खड़ा करते हैं। 'क्याप' इस या उस श्रेणी की सभी सीमाओं को तोड़ देता है। औपनिवेशिक भारत की पड़ताल और कांग्रेस एवं कम्युनिस्ट पार्टियों के परिवर्तनकामी एजेंडाओं की विफलताओं के आकलन के रूप में जहाँ वह राजनीतिक उपन्यास है; उपन्यास के नायक रमुआ के 'डूम' यानि दलित होने से दलित विमर्श की संभावनाओं से युक्त है, वहीं रमुआ एवं उत्तरा की क्याप

प्रेम कथा के बीच वह प्रेम कहानी भी है, साथ ही यथार्थ चित्रण की आख्यान की देशीय कथा–शैली के मॉडर्न उपयोग से विशिष्ट तरीके से 'भारतीय' भी। उपन्यास की भिन्न विशेषता इसी बात में है कि वह एक साथ बहुत कुछ से टकराने वाला है लेकिन अंततः सिनिकल होने वाला भी। वस्तुतः एक ऐसे समय में जब कि दुनिया के तमाम समाज अपनी 'आधी-अधूरी आधुनिकता एवं बौद्धिकों की अधकचरी उत्तर–आधुनिकता' के मध्य सतत् एक सत्तामूलक 'उत्तर' वादी संरचना की एकाश्मिता एवं एकवचनात्मकता की ओर बढ़ रहे हैं, शायद संवाद या जिरह का कोई भी प्रयास अपने परिणाम में सिनिकल हो जाने वाला ही ठहरा बल। जोशी जी के इस 'रेह्टारिक' अर्थात् 'क्याप' को संवाद की अनेकधर्मिता को पुनः प्राप्त करने की जद्दोहद के रूप में ग्रहण करना चाहिये।

'क्याप' की इन ढेर सारी 'जद्दोजहदों' के बखान के बाद भी अगर इस बात को बताने की गुंजाइश रह जाती है कि मैंनें 'क्याप' को अपने शोध के विषय के रुप में क्यों चयनित किया तो सिर्फ इतना कह सकता हूँ कि मेरे शोध–निर्देशक डा0 पुरुषोत्तम अग्रवाल ने मुझे 'क्याप' पढ़ने को दिया और शेष– 'क्याप' ने स्वतः कर दिया।

'क्याप' के मूल्यांकन यानि इस लघु शोध–प्रबंध को– किसी भी अपव्याख्या की असंगति से निर्दोष होने की सुविधा लेने हेतु चार अध्यायों में विस्तार दिया गया है। पहला अध्याय 'स्वप्न के अंत का संकट–1' औपनिवेशिक भारत की शक्ल में गढ़े गये औपनिवेशिक फस्कियाधार की स्मृति की जाँच के दौरान क्याप हो चुके स्वप्न को पुनः 'सम्प्रभु' की अवस्था में पहुंचाने की कथाकार की रचनात्मक कोशिश पर टिप्पणी है। इसी क्रम में दूसरा अध्याय– 'स्वप्न के अंत का संकट–2' 'उपन्यास में व्यक्त–बीसवीं सदी में पनपे–बढ़े विचारों (गांधीवाद, दलित–दर्शन, उपभोक्तावाद, वैश्वीकरण) के उत्थान–पतन पर संक्षिप्त रेखांकन के मध्य मुख्य रूप से लेखक के इस अभिमत पर केंद्रित है कि मार्क्सवाद असफल नहीं हुआ लेकिन भारत की कम्युनिस्ट पार्टियों द्वारा प्रस्थापित संस्थानिक मार्क्सवाद सफल नहीं हो सका है। भारतीय वामपंथ की कार्यनीतिक और रणनीतिक लाइन अराष्ट्रीय और अवसरवादी बनी रही है। तृतीय अध्याय– 'मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी ?' में उपन्यास में प्रमाणित होने वाली इस उपपत्ति को पुनः प्रश्नांकित किया गया है कि– 'असंभव के आयाम में ही होता है क्यों सदा प्रेम का व्यायाम'। यहाँ यह भी उल्लिखित किया जा सकता है कि किशोर प्रणयावस्था का जैसा सर्जनात्मक उपयोग उपन्यास में किया गया है वह तुर्गनेव जैसे लेखकों के रचनात्मक मानस की याद दिलाता है। चतुर्थ अध्याय– 'कथ्य और शिल्प का अन्तर्संबंध' में अंतर्वस्तु और रूप के परस्पर सहयोजन पर सैद्धांतिक रूप से एक दृष्टि डालते हुये उपन्यास को इसी संदर्भ में देखा गया

है। उपन्यासकार की शैली–'फसके–फसके जायते तत्वबोधः' की रही है जिसे उसने रहस्य के शिल्प में सिद्ध किया है।

इस लघु शोध–प्रंबध को पूरा करने में मेरे स्वयं के श्रम की अपेक्षा अन्यों की सदीच्छाओं ने ज्यादा असर दिखाया है। अगर माता–पिता का आशीर्वाद साथ में था तो मोनू की स्नेहिल दोस्ती ने भारतीय दूरसंचार को धता बताते हुये मुझे कभी अकेले नहीं होने दिया। शोध–प्रबंध के मूल रूप को व्यवस्थित करने एवं उपन्यास के सूक्ष्म तर्कों के औचित्य एवं अनौचित्य के प्रति एक स्पष्ट समझ विकसित करने में शोध–निर्देशक डा0 पुरुषोत्तम अग्रवाल का दृष्टिसंपन्न सतत निर्देशन काफी सहायक हुआ। उनके आत्मीय सहयोग के प्रति किसी भी तरह की कृतज्ञता को ज्ञापित करने की अपेक्षा (क्योंकि कृतज्ञता में एक निश्चयात्मक दूरी होती है) मैं सिर्फ इतना लिखना चाहता हूँ कि– "सतगुरु सोइ दया करि दीन्हा। ताते अन–चिन्हार मैं चीन्हा।।" यह भी कि– 'जब मैं भूला रे भाई, मेरे सतगुरु जुगत लखाई'।

इस शोध–कार्य को तैयार करने में मित्रों का सहयोग भी 'कमतर' न था। अभिषेक का नहीं होना तो जैसे मेरे लिये इस 'लघु शोध' के नाम पर केवल खानापूर्ति करना होता । उसके प्रति मैं सबसे अलग से सर्वाधिक धन्यवाद देना चाहता हूँ। प्रदीप ने जहाँ मेरी शोध संबंधी प्रत्येक बात को ध्यानस्थ हो सुना लेकिन अंततः कहा कि 'यह ठीक नहीं है' वहीं रूममेट सुधीर का सहयोग इस रूप में अन्यतम रहा कि बार–बार कमरे से अनुपस्थित रहकर एक ओर अगर उसने मुझे फैल कर लिखने का अवसर दिया तो अपनी उपस्थिति में भी विभिन्न मुद्दों पर बहस कर के विषय को समझने के लिये प्रेरित किया। पंकज 'टोनी' ने अपेक्षा से अधिक (अ) सहयोग दिया जिसकी उससे उम्मीद कम ही थी। इसके अतिरिक्त, भरत और योगेश ने अपने स्व–पुस्तकालय के उपयोग की स्वीकृति देकर यदि मुझे अनावश्यक भागदौड़ से बचाया तो शिवानंद जी, अमित, अमित जी एवं घोष ने भी अनेक स्तर पर मुझे अनेक रुपों में अनुग्रहीत किया।

सबसे अंत में, मैं मक्कू भइया और कुलदीप का आभार व्यक्त करना चाहता हूँ जिन्होंने टाइपिंग जैसे महत्वपूर्ण कार्य को सरलता से संपन्न किया।

ऋषभ कुमार अग्रवाल

अध्याय–1

स्वप्न के अंत का संकट–1

स्वप्न स्मृति के आगे की अवस्था है और आज 'स्वप्न के अंत का संकट' अधिकांशतः स्मृतिभ्रंश के कारण पैदा हुआ है। 'संकट' की समस्या के कारण अनेक हैं लेकिन स्मृतिलोप या उसका पथभ्रष्ट हो जाना सबसे प्रमुख है। स्मृति का होना आत्म–अभिज्ञान का होना है और नहीं होने की दशा आत्मविश्वास को विनाश की सीमा पर ले जाकर पराभव की स्थिति में ला खड़ा करती है। क्याप के कथाकार का साहस यह है कि वह अपने आत्माभिज्ञान के द्वारा आज की तथाकथित उत्तर–औपनिवेशिक सामाजिक–स्मृति तक की जाँच पड़ताल करता है लेकिन त्रासदी यह कि पड़ताल उसे अवांछित लक्ष्यों और दुर्योगों की ओर ले जाती है जहाँ लेखक के सारे स्वप्न 'क्याप' अर्थात् गड़बड़ हो चुकने की नियति की ओर अग्रसर हैं। कथाकार का 'साहस' जहाँ किसी भी जागरूक–जिम्मेदार नागरिक–साहित्यकार का सूक्ष्मदर्शी विवेक है वहीं कहानी की 'त्रासदी' के लिए कहीं न कहीं लेखक का 'उत्तर–आधुनिक' जिम्मेदार है। लेखक स्वप्न देखता है एक समतामूलक, वर्णविहीन, समृद्ध, समरस भारत का लेकिन विद्रूप यह है कि स्वप्न को सार्थक कर सकने वाले सारे प्रयोग प्रतीकात्मक रूप से 'ढ़िणमिणाण भैरव रहस्य काण्ड' की दुर्गति में असफल और अदृश्य हो जाते हैं। किसी भी तरह का विचार और यंत्र कथाकार की दृष्टि में निरर्थक है। संकट की भयावहता गोया यूँ है कि प्रेम और क्राँति के चिरपरिचित औजार भी लेखक की प्रयोगशाला में खारिज कर दिये जाते हैं। अस्तु कथा 'सिनिकल' होने के लिए अभिशप्त है।

मूलतः 'क्याप' एक मार्क्सवादी का आत्मालाप है और स्वप्न के टूटने की स्थिति भी जैसे मार्क्सवादी विश्व–विचार के सामने ही है। क्यों कि 'क्याप' के लेखक मनोहर श्याम जोशी ने कहानी के जिस विस्तृत फलक की रचना की है उसका अधिकांश समाज के प्रश्नों का मार्क्सवादी उपकरणों से परीक्षण के दौरान ही गुजरता है। यद्यपि कहानी के अन्य फलक भी हैं, उपनिवेशकालीन भारत के वाया स्वतंत्र भारत और उत्तर–औपनिवेशिक भारत बनने तक की समझ, पुनः 'आदि' समाज के वाया आधुनिक समाज उत्तर–आधुनिक समाज बनने की प्रक्रिया का विचार आदि विवेचन भी वहाँ हैं, फिर भी जोर मार्क्सवादी मन का ही है। समाज की प्रत्येक कठिनाई की लेखक वर्ग–दृष्टि, वर्ग–चेतना और वर्ग–संघर्ष के आधार पर व्याख्या करना चाहता है और हल न मिलने पर निराश होता है। उपन्यासकार एक बहुत बड़े समय की सारी समस्याओं और विचारों की गड़बड़ियों को एक ही कहानी में उठा लेना चाहता है। अंग्रेजी राज में भारत के शोषण के तरीके सत्ता व धर्म का संबंध, आधुनिकीकरण की समस्या, जाति–वर्ग–व्यवस्था, संस्कृति, विचारधारा, स्वतंत्र भारत में राज्य के कर्त्तव्य एवं असफलता

प्रत्येक कुछ पर उपन्यास में एक दृष्टि व्यक्त है। यह संयोग नहीं है कि उपन्यास का नायक मार्क्सवादी सक्रिय क्रांतिकारी भी है, डूम या दलित भी है, गरीब–बेसहारा भी और साथ ही साथ गांधीवादी सत्य–आग्रहों से प्रभावित भी। लेकिन व्यक्ति और चरित्र के इतने स्तरों का एक ही काया–शरीर में उपस्थित होना, जहाँ कथा को बहुस्तरीय और जटिल बनाते हैं वहीं कथा के अत्यधिक पूर्व–नियोजित (सुनियोजित नहीं) होने को भी स्पष्ट करते हैं। शायद यह अपने समय–स्वप्नों के सारे विमर्शों और उनके विक्षोभों को कम से कम शब्दों में व्यक्त कर देने की 'टेक्नीक' हो लेकिन फिर भी यह उपन्यास की सीमा है जो उसे एक 'थीसिस' का रूप दे देती है। उपन्यास के संदर्भ में शोध के किसी भी प्रयास का मूल उद्देश्य इस थीसिस की कैथार्सिस ही होना चाहिये क्योंकि ऐसा करने पर ही उपन्यास में अभिव्यक्त चुनौतियों, आग्रहों, संभावनाओं के साथ ही साथ प्रत्येक किस्म के लब्ध अनुभवों, उपलब्धियों एवं असफलताओं और उनसे लिये गये सबक और नतीजों के आधार पर 'स्वप्न के अंत के संकट' की सही समझ बन सकेगी। संकट की उचित समझ के बिना समाधान का कोई भी कार्यक्रम असंभव है और इस परिस्थिति में क्याप प्रश्नों की यह क्याप कथा स्वयं क्याप हो जायेगी अतः सही समझ का बनना आवश्यक है। उपन्यासकार को उसके महान दायित्व से आंशिक मुक्ति (जब कि किसी भी सच्चे साहित्यकार को किसी भी रूप में पूर्ण मोक्ष कभी भी कोई भी नहीं दे सकता है) इसी रूप में दी जा सकती है अथवा उपन्यास की प्रत्येक प्रकार की सर्जनात्मकता की रक्षा का तरीका यही है कि उपन्यास में बनती हुयी थीसिस की कैथार्सिस की जाय, प्रत्येक क्याप प्रश्न के साथ 'गहरे पानी की पैठं की जाय, उपन्यास की हर स्मृति को वैचारिक बहस के तहत लाया जाय और भ्रंश एवं क्याप की हर साजिश का विरोध किया जाय। अतः क्याप के विरेचन और रचनात्मकता की रक्षा के कर्त्तव्य के समय में; शुरूआत उपन्यास में औपनिवेशिक भारत की तर्ज पर गढ़े गये औपनिवेशिक फस्कियाधार की ज्ञान मीमांसा के साथ ही–

स्वप्न भविष्य की कल्पना है और यह कल्पना स्मृति पर आधारित। उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया का इस स्मृति से गहरा संबंध है। उपनिवेशीकरण किसी अन्य भौगौलिक व राजनीतिक सीमा–प्रदेश को हस्तांतरित करने की ही क्रिया नहीं है बल्कि वहाँ समाज और संस्कृति के संरचानात्मक एवं संस्थागत रूपों को भी अपनी विचार की सीमा के अंतर्गत लाने का प्रयास होता है। औपनिवेशिक सत्ता यह कार्य उपनिवेशित की सामाजिक स्मृति को तोड़–मरोड़कर या विखंडित कर के करती है। और, इस रूप में भविष्य के स्वप्न को भी खंडित करती है।

आंतरिक उपनिवेशीकरण हो या फिर किसी बाहरी देश या सत्ता का ऐसा प्रयास, दोनों ही रूपों में साम्राज्यवादी शक्तियों का जोर संपूर्ण प्रभुत्व की ओर होता है। साम्राज्यवादी सत्तातंत्र के द्वारा ऐसे विचार–आवेगों को प्रश्रय दिया जाता है जो उपनिवेशित जन के बीच उपनिवेशीकरण की जरूरत या औचित्य को युक्ति संगत ठहराती हैं। उदाहरणस्वरूप सभी जगहों के राजनैतिक–सामाजिक या सांस्कृतिक इतिहास में धर्म का उपयोग अधिकांशतः सत्ता के लिये ऐसे ही किसी वैचारिक सिद्धांत की जरूरत को पूरा करने के लिये किया गया है। भारत में आने वाली प्रथम यूरोपीय साम्राज्यवादी शक्ति अर्थात् पुर्तगाली व्यापारिक कंपनी को पोप के द्वारा इस उद्देश्य का आदेशपत्र (Bill) जारी कया गया था कि पुर्तगाल को सदा के लिये (in perpetuity) वह भूमि प्रदान कर दी जायेगी जो वह अफ्रीका के नोर अंतरीप (Cape Nor) और भारत के बीच खोजता है, किंतु शर्त यह थी कि वह इन देशों के लोगों को ईसाई बनायेगा।[1] इस प्रकार देखा जा सकता है कि धर्म ने किस प्रकार साम्राज्यवाद को प्रभावित एवं प्रोत्साहित करने का काम किया है।

यहाँ यह भी उल्लेख योग्य है कि आज के समय में औपनिवेशीकरण का संविधान कुछ उत्तर विमर्शों द्वारा रचा रहा है। प्राच्यवाद/पौर्वात्यवाद और भूमंडलीकरण की अगुवाई में उत्तर–आधुनिकतावाद, उत्तर–उपनिवेशवाद, उत्तर–संरचनावाद, उत्तर–साम्राज्यवाद, आदि ऐसे ही औपनिवेशिक विचार–सिद्धांत हैं जिनका उपयोग अपने लाभ के लिये पूंजीवादी सत्ता–प्रतिष्ठानों द्वारा किया जा रहा है। ये सब ऐसा प्रयास करते हैं कि उपनिवेश की जनता अपने स्वप्नों को उपनिवेशक की स्मृति से संदर्भित कर के देखे अर्थात् उपनिवेशक के स्वप्न को अपना स्वप्न समझे या वास्तविक स्वप्न का भ्रम बना रहे। इस प्रकार स्वप्न के अंत के संकट के आने के पहले ही वास्तविक स्वप्न के देखे ही न जाने का खतरा मंडराने लगता है। स्वप्नों को विभाजित करके या उन्हें विभिन्न अस्मितावादी विमर्शों के साथ जोड़ने की राजनीति ने भी खतरनाक स्थितियाँ उत्पन्न की हैं।[2]

'क्याप' की क्याप कहानी इन्हीं स्थितियों की खोज–खबर के साथ शुरू होती है। घटना का स्थल कस्तूरीकोट या आधुनिक बाल्मीकि नगर का फस्कियाधार क्षेत्र है जिसे चौदहवीं शती में आंतरिक उपनिवेशीकरण और अठारहवीं शती में अंग्रेजी साम्राज्यवादी शक्तियों का सामना करना पड़ता है। फस्कियाधार को प्रतीकात्मक रूप से अखिल भारत का प्रतिनिधि माना जा सकता है। फस्कियाधार को जीवन के उन प्रारंभिक रूपों या तथाकथित अभाव के रूपों से निर्मित किया गया है जहाँ प्राकृतिक संपदा तो बहुतायत में है लेकिन जीने

की कला के आधुनिक साधनों का प्रयोग अभी नहीं हुआ है। गरीबी इस भयावह रूप से है और इस अत्यधिक मात्रा में है कि फस्कियाधार नाम ही इसलिये पड़ा कि अभावों से भरी जिंदगी की तमाम खामियाँ स्थानिक लोगों की कल्पनाशीलता या फसक से पूरी की जाती हैं। गप्प वहाँ मनोरंजन का साधन है वहीं रूखे–सूखे खाने के लिये सरस व्यंजन भी है। जुगाड़ वहाँ पुरूषार्थ हो चुका है। यज्ञ में घी क्या पानी तक से आहुति देना मुश्किल है अतः गप्प ही आहुति का काम करते हैं। अभाव की आह की हद यह है कि– "गरीबी सचमुच एक अच्छा मजाक है– अमीरों का अमीरों के लिये, गरीबों पर।"[3] फस्कियाधार के इस दरिद्रता के इतिहास के बीच से ही उसका औपनिवेशिक इतिहास शुरू होता है। औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा साधनों के आधुनिकीकरण या गरीबी–निवारण का छद्म उपकार संपन्न किया जाता है। उल्लेखनीय है कि यह रूपक दुनिया की लगभग समस्त औपनिवेशिक बस्तियों का सत्य है, जहाँ जीवन के आधुनिकीकरण एवं आर्थिक विकास के नाम पर औपनिवेशिक शासकों द्वारा साधनों एवं सम्पत्ति का दोहन किया जाता है। अतः फसिकयाधार के औपनिवेशिक बिम्ब में उपनिवेशीकरण की वैश्विक कार्यवाहियों का प्रतीकात्मक दर्शन किया जा सकता है। प्रसंगवश यहाँ विलियम शेक्सपियर के नाटक 'द टेम्पेस्ट' की याद भी की जा सकती है जहाँ प्रोस्पेरो के द्वारा कैलिबन के टापू को साम्राज्यवादी एवं उपनिवेशवादी संरचना के अंतर्गत लाया जाता है।

ध्यान देने की बात है, कि औपनिवेशिक फस्कियाधार की और किसी भी चर्चा के पहले आवश्यक है कि साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी मंसूबों को उनकी आंतरिक संरचना एवं प्रयोगों के विस्तृत विश्लेषण के साथ समझा जाय क्योंकि इस रूप में उपलब्ध ज्ञान ही फस्कियाधार की प्रत्येक स्मृति, उसके भ्रंश और प्रत्येक सपने के फसक होते जाने की दारूण कथा को सर्वाधिक रूप से स्पष्ट कर सकेगा। साम्राज्यवाद का अर्थ– "एक दूर स्थित सीमा पर शासन कर रहे प्रबल मेट्रोपोलिस के व्यवहार, सिद्धांत और दृष्टिकोण से है। उपनिवेशवाद जो हमेशा साम्राज्यवाद का परिणाम होता है, दूर स्थित सीमा पर उपनिवेश या आवास का आरोपण है।"[4] सामान्यतः साम्राज्यवाद के राजनीतिक, विधिक और सैनिक अनुशासन एवं नियंत्रण व संरक्षण में ही मातृदेश के व्यापारिक कार्यों का विस्तार और प्रसार होता है और इस विधि से औपनिवेशीकरण की प्रक्रिया संचालित होती है। लेकिन सामान्य विसंगति यह है कि व्यापार–वाणिज्य के संरक्षण में ही अधिकांशतः साम्राज्यवाद की नींव पड़ी है, यह अलग बात है कि जब देश में साम्राज्यवादी सत्ता स्थापित हो गयी तो उसने व्यापार व वाणिज्य का स्वलाभ

के लिये व्यापक रूप से समर्थन व पिष्टपेषण किया; जो कि साम्राज्यवाद के उन्नत भविष्य के लिये अनिवार्य भी था। दूसरे शब्दों में कहें तो आर्थिक साम्राज्यवाद की अगुवाई में राजनीतिक साम्राज्यवाद स्थापित किया जाता है। आज पुनः परिष्कृत रूप में उत्तर–साम्राज्यवाद और उत्तर–उपनिवेशवाद का चरित्र भी कुछ ऐसा ही प्रतीत हो रहा है। 15 वीं–16 वीं शताब्दी में भारत आने वाली सभी साम्राज्यवादी शक्तियाँ–पुर्तगाली, डच, डैनिश, अंग्रेजी, फ्रांसीसी–सभी मूलतः ट्रेडिंग कम्पनियाँ ही थीं, जिन्होंने अपनी व्यापारिक कार्यवाहियों के छद्म रूप में साम्राज्यवादी संरचना विकसित करने में महत्वपूर्ण सफलता प्राप्त की। अतः स्पष्टतः, सहजता से कहा जा सकता है कि विश्व में उपनिवेशवाद व्यापारवादी गतिविधियों की अतिवादी कार्यवाही है या लाभ के सौदे को अधिक लाभ का बनाने वाली राजनीतिक गतिविधि है।

उपन्यास के घटना स्थल 'जीबीजौल' में चौदहवीं सदी में आंतरिक औपनिवेशिक शक्तियों द्वारा किया गया प्रयास तत्वतः आर्थिक या व्यापारिक लाभ के लिये किया गया था। वहाँ किसी भी प्रकार की सुविचारित, सुनियोजित और साम्राज्यवादी–राजनीतिक दृष्टि का घोर अभाव था। उपन्यास से संदर्भ प्रत्यक्ष किया जा सकता है– "तो एक स्तर पर रहस्यमय ढिणमिणाण भैरव काण्ड की यह कहानी चौदहवीं शताब्दी में तभी शुरू हो गयी जब मैदानों में मुसलमानों द्वारा हरा दिये गये एक हिंदू राजा ने हिमालय की गोदी में शरण ली और उसके पड़पोते ने अपना राज्य कस्तूरीकोट शहर तक फैला दिया। फिर चौदहवीं शताब्दी के अंत में ये बाहर वाले कस्तूरीकोट से जीबीजौल तक पहुंचे जिसे उन्होंने एक नया नाम दिया। इस जगह को उन्होंने अपने बसने योग्य नहीं समझा। यहाँ की चंद चीजें ही ऐसी थीं जिन पर उनकी निगाह टिकी। पहली कस्तूरी मृग।"[5] "दूसरी चीज थी शिलाजीत जिसकी आवश्यकता सम्पन्नता से क्षीण हुआ उनका पुसंत्व व्यग्रता से अनुभव करता था।"[6] स्पष्ट है कि हिंदू राजा की संतानों द्वारा जीबीजौल का उपयोग केवल आर्थिक लाभ प्राप्त करने हेतु ही किया गया; चूंकि जीबीजौल को निवास योग्य नहीं समझा गया अतः उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया अधूरी ही रह गयी।[7] यद्यपि यहाँ पर साम्राज्यवादी उच्च–भ्रू संस्कृति के दर्प के सहज प्रमाण देखे जा सकते हैं जो कि किसी भी औपनिवेशिक सत्तातंत्र का मुख्य सांस्कृतिक हथियार होता है– "इन बाहरी विजेताओं ने हमें हीनभावना दी। शूद्रता और क्षुद्रता दोनों का बोध कराया। इसे उनकी कृपा ही कहा जायेगा कि इसके साथ ही उन्होंने हमें यह भी समझाया कि हमारी दीन–हीन दशा अपने पूर्व जन्मों के पापों का परिणाम है।"[8] लेकिन द्रष्टव्य है कि यहाँ सांस्कृतिक दर्प में एक होशियार व्यापारी की चतुर व्यापारिक कला का बोध व भाव अधिक है

जो सामने वाले को मूर्ख घोषित कर के, हीन बनाकर, अपने कच्चे माल को कम से कम दाम पर खरीद कर अधिकाधिक मुनाफा कमाना चाहता है। औपनिवेशिकों के दुर्दमनीय शोषण एवं सुचिंतित षणयंत्रकारी शास्त्र की जकड़न तो अंग्रेजी पादरी डब्ल्यू.जी. हैरिसन के आने के बाद शुरू होती है। जैसे उपन्यास के शब्दों में यूँ कि "यह कहा जा सकता है कि हैरिसन के आने से पहले फस्कियाधार का कोई भूगोल या इतिहास नहीं था।"[9] (पाठक फस्कियाघार की सारी कहानी पढ़ने के बाद सहजतया उपर्युक्त कथन के आगे यह जोड़ने की निर्दोष सुविधा उठा सकते हैं–) न ही शोषण का और न ही शोषण के किसी शास्त्र का।

हैरिसन के द्वारा फस्कियाधार के जिस इतिहास या भूगोल लिखे जाने की बात उपन्यासकार जोशी जी करते हैं, उसमें कुछ बड़े सूत्र या संकेत छिपे हैं। एडवर्ड सईद के विचार से कहें तो यह प्राच्यवाद / पौर्वात्यवाद है।[10] उपनिवेशक–साम्राज्यवादी ताकतों के द्वारा उपनिवेशित को इतिहासबोध से रहित या 'हिस्ट्रीलेस पीपुल' घोषित कर के और उसके (उपनिवेशित के) इतिहास के प्रारंभ को अपने आने से जुड़ा हुआ दिखाकर एक प्रकार से राजनीतिक विजय के साथ–साथ मनोवैज्ञानिक विजय का भी दावा या प्रयास किया जाता है। हैरिसन का फस्कियाधार में किया गया दावा भी कुछ इसी प्रकार का है– "यहाँ तक भी कहा जा सकता है कि अगर हल्ली आकर्षक न होती, हैरिसन आकर्षित न होता तो फस्कियाधार का संसार के लिये कोई अस्तित्व ही नहीं होता।"[11] स्पष्ट है कि फस्कियाधार को हैरिसन महोदय का अपनी मृत्यु तक कृतज्ञ होना चाहिये, 'पितृ देवो भवः'; आखिर सारी लड़ाई अस्तित्वगत ही तो है। एडवर्ड सईद चिंतन के इसी दृष्टिकोण के कारण महत्वपूर्ण हैं कि वे उपर्युक्त 'पश्चिमी–प्रतिष्ठा–मापदंड' को और इस पश्चिमवादी चिंतन–पद्धति द्वारा पोषित श्रेणीक्रम को विकेंद्रित करने का प्रयास करते हैं और उसको प्रत्यक्ष करते हैं जो इस छद्म राजनीति के द्वारा परिधि पर डाल दिया गया है यानि कि पूर्व; उपन्यास के संदर्भ में फस्कियाधार।

सईद महोदय पूर्व को एक रूपक के रूप में लेते हैं क्योंकि रूपक के द्वारा वो यह संकेत करने में सफल होते हैं कि पूर्व में जो घटित हुआ है वह अन्य क्षेत्रों में भी घटित हुआ है, जैसे कि प्रसंगवश फस्कियाधार में ही घटित होता है। सईद की सदिच्छा यह है कि पूर्व और पश्चिम जैसे विलोम युग्मों का अस्तित्व ही न रहे, तभी श्रेष्ठता और प्रभुत्व की कोई भी कोशिश समाप्त हो सकेगी। सईद की पुस्तक 'पौर्वात्यवाद' के 'पौर्वात्यवाद की व्याप्ति'[12] शीर्षक अध्याय का सारा विषाद इसी बात का है कि पश्चिम या पूर्व की धाराओं में विचार को

प्रवाहित करने हेतु पौर्वात्यवाद ने पूर्व और पश्चिम के विभाजन को सुविचारित नीति से और गहरा किया है। 'ओरियंटलिज्म' वस्तुतः शक्तिहीनों और शक्तिसम्पन्नों के उस आपसी संबध का अध्ययन करता है जिसके अनुसार सामर्थ्यवान पश्चिम ने सामर्थ्यहीन पूर्व के साथ कितना भेदपरक व्यवहार किया है और यह अपमानपूर्वक दृष्टिकोण वैसा ही है जैसा पुरुष का स्त्री के प्रति, श्वेत का अश्वेत के प्रति, तर्कशास्त्रियों का विक्षिप्तों के प्रति, इत्यादि।[13] 'ओरियंटलिज्म' के कुछ वाक्य बानगी के तौर पर लिये जा सकते हैं जो पश्चिम के आत्मदर्प, दंभ एवं आत्मश्रेष्ठता के भाव को व्यक्त करते हैं–

1. "पूर्व इस प्रकार देखा गया कि वह अध्ययन कक्ष, अपराधिक न्यायालय, कारावास, व्याख्यायित हस्त ग्रंथ से निर्मित हुआ है तब पौर्वात्यवाद पूर्व का ज्ञान है.....।"[14]

2. "पूर्व अतार्किक, कलुषित (पतित), शिशुवत, (और) भिन्न है; इस प्रकार यूरोप तार्किक, गुणयुक्त, प्रौढ़, सामान्य है"[15]

3. "पूर्व को पश्चिमी समाज के कुछ ऐसे तत्वों (बाल अपराधी, विक्षिप्त, स्त्री, निर्धन) से जोड़ा जाता था जिनकी उभयनिष्ठ समानता का सर्वोत्तम सटीक नाम हो सकता है घटिया स्तर का विजातीय।"[16]

प्रसंगवश, इतिहासकार बिपिनचंद्र की महत्वपूर्ण पुस्तक 'भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद' से कुछ विशेष अंशों को सईद महोदय के समर्थन में उल्लिखित किया जा सकता है जो पौर्वात्यवाद की भावना को, ब्रिटिश शासन और औपनिवेशिक भारत के संदर्भ में दृष्टिगत करते हैं। निश्चित रूप से यह फस्कियाधार के अभावग्रस्त गरीब लोगों को हैरिसन द्वारा दी गई प्रच्छन्न भेटों एवं अविकास को और भी अधिक स्पष्ट करेगा, क्योंकि पहले भी संकेत किया जा चुका है कि फस्कियाधार प्रतीकात्मक रूप से हिंदुस्तान ही है; उपन्यास में भी यह स्पष्ट है। अतः विशिष्ट अंश निम्नवत हैं–

1. साम्राज्यवादी विचारधारा के इतिहास लेखन के वरिष्ठ लेखक सी.एच. फिलिप्स का कथन इस प्रकार है– कि क्या राजनैतिक सत्ता का हस्तांतरण किया जाय और कैसे किया जाय जैसे आधारभूत प्रश्नों के अतिरिक्त 1857–1947 के बीच ब्रिटिश शासकों के मन में अनेक अन्य प्रश्न भी थे– 'उनमें सबसे मौलिक प्रश्न यह था कि ब्रिटेन का सभ्य बनाने का मिशन कैसे पूरा हो, भारतवासियों के मस्तिष्क को नए विचार ग्रहण करने के लिये कैसे

खोला जाय, और लाखों गरीब और अज्ञानी लोगों को धूल में से कैसे उठाया जाय ?"[17] ('द इवोल्यूशन ऑफ इंडिया एंड पाकिस्तान 1858 से 1947, सिलेक्ट डाक्यूमेंट्स' 1962, 1965 पुनर्मुद्रण की भूमिका, viii)।

2. इसी क्रम में, जॉन और रिचर्ड स्ट्रैची की 1882 में की गई गर्वोक्ति निम्न है– "पिछले पच्चीस वर्षों में जो काम आरंभ किया गया है और जो-अभी भी जारी है, उससे अधिक महान और प्रशंसनीय कार्य की किसी भी देश में कल्पना नहीं की गई... (उससे) भारत के लोगों के ऐश्वर्य और सुख–आराम में जो वृद्धि हुई है उसका आकलन नहीं किया जा सकता।"[18] (द फाइनेंसेज एंड पब्लिक वर्क्स ऑफ इंडिया, पृ.–6 व 8)।

ऐसे अन्य अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं, जिनको छोड़ दिया गया है। लेकिन, यह बात बिल्कुल स्पष्ट है कि साम्राज्यवादी समर्थक इस बात पर एकमत हैं कि भारत की निर्धनता व असभ्यता को दूर करना अंग्रेजी साम्राज्यवाद की मूल चिंता थी या यूँ कहें कि भारतभूमि पर उनका अवतरण इसी पवित्र कार्य को करने हेतु हुआ था और इस सद्चिंता में जो भी कमी आई है यानि कि भारत जो भी ऐश्वर्ययुक्त, सभ्य एवं ज्ञानवान हुआ था, (यद्यपि वास्तविकता पूर्णतया भिन्न है जिस पर आगे के परिच्छेदों में चर्चा की जायेगी) वह अंग्रेजी राज के अथक परिश्रम का महान परिणाम था। सहजतया देखा जा सकता है कि अंग्रेजी राज की तथाकथित सद्चिंता', 'अथक परिश्रम' और उसके 'महान परिणाम' में ही उसकी पौर्वात्यवादी भावना के विभिन्न रूप छिपे हुये हैं। फस्कियाधार में सैंडहर्स्ट महोदय भी हैरिसन को इसी सदचिंता से बाध्य होकर, अथक परिश्रम करने और उसके महान परिणाम उपलब्ध कराने हेतु अवतरित कराते हैं– "कस्तूरीकोट में आकर बस जाओ, क्योंकि यहाँ..... के जाहिल सच्चे प्रभु के प्रकाश की प्रतीक्षा में हैं।"[19] सईद उपर्युक्त प्रकार के किसी भी छद्म विचार या ज्ञान को जो सत्यनिष्कर्षों पर आधारित नहीं है और ज्ञान को वर्चस्व स्थापना की वस्तु समझकर उसके द्वारा भय या दया का काम लेता है– "कहीं भी किसी समय ज्ञान की किसी भी ज्ञान की लघुकारी अधोगति का अभिसूचक"[20] कहते हैं।

यहाँ यह उल्लेख किया जा सकता है कि ज्ञान की इस लघुकारी अधोगति का गहरा संबंध ग्राम्शी की आधिपत्य (हेगेमनी) की अवधारणा से है। और, इसीलिये ग्राम्शी को सईद की पूर्वाशा के रूप में चिह्नित किया जा सकता है। इसका उलट भी कहा जा सकता है। हेगेमनी की अवधारणा की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि शक्तिशाली वर्ग शासित के ऊपर

अपनी शक्ति का प्रयोग उसकी सहमति के साथ उसकी विचारधारा के समावेशन और रूपांतरण के साथ करता है। इस प्रक्रिया में बल प्रयोग की अपेक्षा समूचा जोर 'सहमति' पर होता है जो वर्ग, धर्म, शिक्षा, परिवार तथा संचार–माध्यम की संस्थाओं के उपयोग द्वारा प्राप्त की जाती है। यह एक प्रकार का अप्रत्यक्ष प्रभुत्व है, जबकि प्रत्यक्ष प्रभुत्व शरीर बल जैसे सेना, पुलिस और नौकरशाही आदि के द्वारा हासिल होता है।[21] वस्तुतः किसी भी तरह के सांस्कृतिक साम्राज्यवाद की असली समझ ग्राम्शी के हेगेमनी की प्रस्थापना से ली जा सकती है। ग्राम्शी और सईद का महत्व इसी बात में है कि उन्होंने संस्कृति को साम्राज्यवादी औजार न बनने देने की वैचारिक समझ और कवायद शुरू की है। सच यह है कि सांस्कृतिक साम्राज्यवाद राजनीतिक साम्राज्यवाद से अधिक खतरनाक है क्योंकि यहाँ भौगोलिक सीमाओं एवं क्षेत्रों को जीतना आवश्यक नहीं होता, उनका सरलता से अतिक्रमण संभव है। वर्तमान में संप्रेषण–क्रांति के द्वारा उत्पन्न नव–साम्राज्यवाद को देखते हुये ग्राम्शी और सईद के प्रति अधिक ऋणी होने की आवश्यकता है।

'संस्कृति और भूमंडलीकरण' शीर्षक लेख में एजाज अहमद वर्चस्वशाली संस्कृति की एक दूसरी अन्य प्रवृत्ति या दावे के प्रति दृष्टि खींचते हैं, जहाँ वर्चस्वशाली संस्कृति के द्वारा स्वयं को विशिष्ट से अधिक निर्विकल्प बताने पर जोर होता है। इसे पौर्वात्यवादी बोध के परिवर्धित और अधिक विध्वंसक संस्करण के रूप में देखना चाहिये। वर्चस्वशाली वर्गों की पहली व सामान्य चाल यह होती है कि ये अपनी अल्पमत की संस्कृति की बहुमत की संस्कृतियों पर श्रेष्ठता की घोषणा करती हैं। जब कि दूसरा महत्वपूर्ण दावा वह है; जिस पर अलग से ध्यान केंद्रित करने की जरूरत है– "जिसमें अल्पमत की संस्कृति अपनी अल्पमतीय हैसियत पहचानने से इंकार कर देती है और यह नहीं मानती कि ऐसी दूसरी संस्कृतियाँ हैं या हो सकती हैं जिनका अनुसरण और पालन बहुमत द्वारा किया जाता है। इस मामले में विशेषाधिकार संपन्न और ताकतवर लोगों की अल्पमतीय संस्कृति अपने अकेली संभव संस्कृति होने का और इसलिये बहुमत की संस्कृति होने का, वस्तुतः समूची जनता की संस्कृति होने का दावा करती है।"[22] इस प्रकार अन्य संस्कृतियों के सामने विकल्पहीनता की दशा उपस्थित करती है। उदाहरण के द्वारा वर्चस्वशील शक्तियों के इस निर्वैकल्पिक बन जाने वाले छद्म दावे को बेहतर तरीके से समझा जा सकता है। यथा, जब कोई वर्ग–संस्कृति स्वयं को राष्ट्रीय संस्कृति के रूप में प्रस्तुत करती है तो वह भी कुछ इसी प्रकार का प्रयास करती है। ब्राह्मणवाद की अल्पमतीय संस्कृति पहले स्वयं को हिंदू संस्कृति, पुनः भारतीय संस्कृति होने

का दावा करती है। इस प्रक्रिया में एक विशेष धर्म एक विशेष संस्कृति को वैध बनाता है और एक विशेष संस्कृति एक विशेष धर्म को; और संस्कृति और धर्म दोनों पर राष्ट्रीय होने की मुहर लगाई जाती है। कठिन स्थिति यह है कि जब आप ब्राह्मणवाद के साथ नहीं होते हैं तो आप एक ही जोर में धर्म, संस्कृति और राष्ट्र के इस कृत्रिम त्रिभुज से बाहर फेंक दिये जाते हैं और एक ही साथ अधर्मी, असांस्कृतिक और राष्ट्रद्रोही घोषित किये जा सकते हैं।

आज के समय में भूमंडलीकरण के पीछे भी कुछ ऐसी ही वर्चस्वशाली राजनीतिक–सांस्कृतिक अपदृष्टि है।"..भूमंडलीकरण शब्द का मुख्य वैचारिक काम सारी दुनिया में, राजनीति और अर्थव्यवस्था के क्षेत्रों के साथ–साथ संस्कृति के परिदृश्य में भी, एक तरह की बेबसी का भाव भरना और हर किसी को यह यकीन दिलाना कि वास्तव में अब कोई विकल्प नहीं है; कि राष्ट्र–राज्य तक भूमंडलीकरण की प्रक्रियाओं के आगे असहाय है; कि भारत और चीन जैसे विशाल देश भी–जहाँ दुनिया की आधी आबादी रहती है, असहाय है; और इसलिये आप हैं कौन–कामगार जमातों के दल, जनांदोलनों में लगे संस्कृतिकर्मी, साम्राज्यवाद विरोधी, उग्रवादी–आप हैं कौन यह कल्पना करने वाले कि आप उस ताकत से लड़ सकते हैं, जो भूमंडलीकरण कहलाती है ?"[23] इस प्रकर स्पष्ट है कि भूमंडलीकरण जैसे अप्रतिरोध्य ही है, विकल्पहीन, एक प्राकृतिक नियम सा जिस पर किसी का वश–नियंत्रण नहीं। भूमंडलवाद की अवपीड़क विचारधारा जहाँ एक ओर प्रौद्योगिकीय निश्चयवाद के द्वारा यह स्पष्ट करती है कि यह दुनिया उसी की होगी जो प्रौद्योगिकी प्रवण होंगे, वहीं यह ठोस मान्यता भी विकसित करती है कि जो लोग सांस्कृतिक प्रस्तुतियों में w.w.w.,e.mail, e-commerce, खगोलीकृत टीवी नेटवर्कों आदि अत्याधुनिक संचार प्रविधियों का उपयोग नहीं करेंगे वे हाशिये के लोग हैं– पिछड़े हुये, अतीत के फासिल सदृश हैं। इस प्रकार दुनिया के सामने एक नया साम्राज्यवादी आक्रमण पसर रहा है जो अधिक पैने दांतों वाला है। अतः अवश्यकता इस बात की है कि किसी भी तरह के मनोवैज्ञानिक दबाव से ऊपर उठा जाय, उसे नष्ट–भ्रष्ट कर दिया जाय चाहे वह उत्तर–औपनिवेशिक समय का भूमंडलीकरण हो या फिर अंग्रेजी शासन में दया–दृष्टि वाला प्राच्यवाद। इस संबंध में प्रसिद्ध पुस्तक 'आज का भारत' के लेखक रजनी पाम दत्त का अधोलिखित तर्क गौरतलब है– कि वह किसी भी प्रकार के साम्राज्यवादी तर्क को सिरे से खारिज करने वाला है कि "सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ापन जनता की निम्न आर्थिक स्थिति तथा राजनीतिक दासता का परिणाम और उसकी अभिव्यक्ति है न कि जनता की निम्न आर्थिक स्थिति तथा राजनीतिक दासता उसके

सामाजिक और सांस्कृतिक पिछड़ेपन का परिणाम तथा अभिव्यक्ति है। निरक्षरता के लिये उस सरकार की भर्त्सना की जा सकती है जो जनता को अज्ञान में रखती है और उन्हें शिक्षा देने से इंकार करती है लेकिन हम उस जनता की भर्त्सना नहीं करेंगे जिसे सीखने का अवसर दिया ही नहीं गया।"[24] वस्तुतः भारत के उपनिवेशकों ने प्रारंभ में ही यह समझ लिया था कि उन्नत भविष्य के लिये सावधानी पूर्वक अपना रास्ता बनाना होगा। स्वयं को वैध ठहराने के लिये उन्हें सर्वप्रथम कई पूर्व–औपनिवेशिक संरचनाओं और पाठों को अवैध ठहराना पड़ा। भारत को मिल व मैकाले के 'सांस्कृतिक अंधत्व' की दृष्टि के अंतर्गत देखा जाने लगा। भारतीयों को रूढ़िवादी, पारंपरिक, अंधविश्वासी, आलसी, अनाधुनिक दृष्टिकोण वाला अवैज्ञानिक घोषित किया गया। गरीबी और गंदगी को भारत की पहली तस्वीर के रूप में सामने लाया गया। प्रमुख आंग्लवादी विलियम जोंस ने यह गर्वोक्ति जाहिर की कि एशियाटिकों की वैज्ञानिक उपलब्धियाँ यूरोपियों की तुलना में 'बच्चों जैसी' थीं।[25] (माइकल अदास द्वारा उद्धृत, मंशीस ऐज दि मेजर ऑफ मेन, दिल्ली, 1990, पृ–107) इस प्रकार औपनिवेशिक सत्ता–संरचना हर हाल में वरीयता क्रम सुनिश्चित करना चाहती थी और वंचितों को हाशिये पर फेंक देने में माहिर थी। एक प्रकार के पितृसत्तात्मक समाज की स्थापना का स्वांग रचा गया जो देखभाल के स्थान पर खारिज करने का दायित्व बखूबी निभा रही थी, 'बंदूकबाजी' और ज्ञान के वर्चस्व दोनों को आधार बनाकर अपना तल मतबूत कर रही थी।

किसी भी उपनिवेश में उपनिवेशक के द्वारा पौर्वात्यवादी भावना को विकसित करते हुये स्वयं के समर्थन में जो सबसे प्रमुख तर्क दिया जाता है वह यह है कि– वह आर्थिक रूप से पिछड़े हुये, गरीब, अज्ञानी, गुणहीन उपनिवेश का (जाहिर है कि भले ही उपनिवेश ऐसा न रहा हो लेकिन प्राच्यवाद के द्वारा उसे ऐसा पहले ही घोषित किया जा चुका होता है) आधुनिकीकरण करके विकास कर रही है। इस प्रकार उपनिवेश के लिये स्वयं की परम–उपयोगिता का विचार लाया जाता है। फस्कियाधार में हैरिसन भी यही करता है और औपनिवेशिक भारत में ब्रिटिश शासन द्वारा भी यही किया जाता है। ब्रिटिश सत्ता के द्वारा भारत के संदर्भ में व्यक्त किये गये इस प्रकार के तर्कों एवं उसकी सच्चाई की रोशनी में हैरिसन के तर्कशास्त्र एवं उसके 'सु'–कृत्यों की ठोस खबर ली जा सकती है। अतः अंग्रेजी राज के इस संबंध में किये गये दावों और भारत के तथाकथित आधुनिकीकरण पर या अंग्रेजी राज में हुये खोखले आर्थिक विकास पर एक दृष्टि डालना लाभप्रद होगा, अतः आवश्यक भी।

फस्कियाधार के विषय में इस संबंध का विचार आगे किया जायेगा; यह भारतीय होने के कर्त्तव्य से मुक्त होने का समय है।

भारत में ब्रिटिश राज के समर्थन में सबसे प्रमुख तर्क यह दिया जाता है कि वह आर्थिक क्षेत्र का आधुनिकीकरण कर रहा था और इस विधि से समाज का भी। (जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है कि अंग्रेजी उपनिवेशवाद की तथाकथित मूल चिंता यह थी कि भारत का विकास कैसे हो ?) साम्राज्यवादी लेखकों द्वारा यह विचार लगातार प्रचार में लाया गया कि आधुनिकता एक ब्रिटिश आयात है न कि मनुष्य की तार्किक प्रकृति में अंतर्निहित किसी चीज के बतौर है।[26] इसी आधार पर इसके तर्कपूर्ण होने का दावा किया गया और इसकी उपयोगितावादी विचारधारा का गुणगान किया गया। इस समय का प्रिय मंत्र था– "भारत अब इतना बूढ़ा हो चुका है कि उसे तर्कशील नहीं बनाया जा सकता।..... केवल ब्रिटिश उपनिवेशवाद का लिटमस परीक्षण ही इस उपमहाद्वीप को तार्किकता और आधुनिकीकरण की ओर ले जायेगा।"[27] (सारा सुलेरी, दि रिटारिक ऑफ इंग्लिश इंडिया, शिकागो, 1992, पृ.34) यह इकलौता कथन नहीं था। लगभग सभी औपनिवेशिक लेखक इस बात से सहमति रखते थे कि भारत ब्रिटिश प्रशासन के अधीन एक तेज आर्थिक विकास के दौर से गुजर रहा है। सैकड़ों ऐसे वक्तव्य ढूंढे जा सकते हैं जो एक स्वर से अंग्रेजी सत्ता–शासन द्वारा भारत के सामंती पिछड़ेपन को दूर किये जाने के संदर्भ में दिये जाते थे। उदाहरणार्थ–

(i) जार्ज कैम्पबेल जैसे संयत और विद्वान व्यक्ति ने 1882 में घोषणा की–

"सार्वजनिक निर्माण कार्यों और भौतिक सुधारों के संबंध में भारत को लगभग सभ्य देशों के स्तर पर रखा गया है। पिछले तीस वर्षों में रेलवे और अनेक विकास–कार्यों के परिणामस्वरूप पूरी तरह कायापलट हुआ है जितना इससे कुछ समय पूर्व यूरोप और अमरीका में हुआ था।"[28] (एडिनबरा रिव्यू, जुलाई, 1882, प.68)

(ii) क्रम को नियमित करते हुये– 1857 से 1887 के बीच भारत में हुई प्रगति का वर्णन हेनरी सुमनर मेन के जायके में इस प्रकार है–

"पश्चिमी देशों में प्रगति की जाँच के लिये जिन मानकों का प्रयोग किया जाता है उनके आधार पर देखें तो यूरोप में ऐसा कोई देश नहीं है जिसने इस बात को देखते

हुये कि भारत में आरंभ कहाँ से हुआ– उसी अवधि में ब्रिटिश भारत की अपेक्षा अधिक तेजी से और उससे अधिक प्रगति की हो..... नैतिक और भौतिक सुधार की प्रक्रिया का वहाँ अनवरत क्रम दिखाई देता है और कुछ क्षेत्रों में तो वह ब्रिटेन से भी आगे बढ़ गई है।"[29]

लगभग सभी ब्रिटिश लेखकों को यह विश्वास था कि भारत में आर्थिक विकास की ठोस नींव रखी जा चुकी है। साथ ही वे इस बात को लेकर पूर्णतया आशान्वित थे कि संसाधनों के विकास पर आधारित नई व्यवस्था भविष्य में तेजी से विकास करेगी।[30] उल्लेखनीय है कि विदेशी व्यापार और विदेशी पूंजी पर सर्वाधिक विश्वास किया गया। जान और रिचर्ड स्ट्रैची ने इस मान्यता को इन शब्दों में अभिव्यक्त किया– "भारत में लोगों की भौतिक दशा में सुधार केवल धन के संचय और उसके साथ विदेशी व्यापार में सतत वृद्धि द्वारा ही हो सकता है।"[31] (द फाइनेंसेज एंड पब्लिक वर्क्स ऑफ इंडिया, 1869–1881, 1882, पृ0–429) इसी तरह 'प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी' में स्टुअर्ट मिल ने भी विदेशी व्यापार के संवर्धन को आर्थिक विकास के मूलाधार होने का सैद्धांतिक बल देते हुये प्रतिपादित किया कि– "आर्थिक दुष्चक्र को तोड़ने और आर्थिक विकास के आरंभ करने का सबसे अच्छा तरीका यही था कि कपास, नील, चीनी और कॉफी आदि भारतीय कृषि–उत्पादों के निर्यात को बढ़ावा दिया जाय। इससे गाँवों में खाद्यान्न के लिये बाजार बनता जिससे उनके उत्पादन में वृद्धि होती।[32] (पृ0– 121–22, सं. डब्ल्यू.जे.एशले) इसी प्रकार, 1858 के बाद ब्रिटिश लेखकों द्वारा भारत में देशीय पूंजी के अभाव लेकिन अक्षतभूमि, संसाधनों और श्रम की बहुतायत (ध्यान रहे कि फस्कियाधार का चरित्र ठीक ऐसा ही है– प्राकृतिक सुंदरता के मध्य तमाम अभावग्रस्त लोग) के आधार पर विदेशी पूंजी निवेश के द्वारा विकास की प्रबल संभावना के विचार को प्रश्रय दिया गया। पूंजी के आयात के द्वारा भारत में अप्रत्याशित समृद्धि साथ ही इंग्लैंड के सर्वहारा लोगों के भी संयुक्त राज्य के कामगारों के बराबर समृद्ध होने की बात कही गई।

ध्यान देने की बात है कि 1850 के बाद के अगले पचास वर्षों में साम्राज्यवादियों द्वारा लगातार ऐसा माहौल बनाने की कोशिश की गई, जो ब्रिटिश पूंजी को आकृष्ट कर सके। क्योंकि, ऐसा होने पर ही उनके अनुसार भारत का विकास हो सकता था। 'वेस्टमिंस्टर रिव्यू' के जनवरी 1868 के अंक में एक लेखक ने अलंकृत शैली में घोषणा की– "और यदि अंग्रेजी पूंजी, अंग्रेजी बुद्धि और अंग्रेजी उपक्रम का, हमारे सुपुर्द किये गये इस परिपूर्ण देश की अनंत और अकथनीय संपदा का पूरी तरह विकास करने में प्रयोग किया जाय तो उसके कितने

आश्चर्यजनक परिणाम होंगे उनकी कल्पना करना कठिन है।"[33] (वेस्टमिस्टंर रिव्यू, पृ. –222–23) इसी तरह 1887 में एम. ई. ग्रांट ने दावा किया कि ब्रिटिश पूंजी निवेश ऐसे देश को सुधारने की पहली आवश्यकता है जो केवल अर्धसभ्य है।[34] (कंटेपरेरी रिव्यू, जनवरी 1887, पृ.–15) लार्ड कर्जन ने ब्रिटिश पूंजी को इन शब्दों में राह दिखाई कि बाहर के पूंजी निवेश के सारे रास्ते बंद होने पर ब्रिटिश पूंजी को जो कभी इस बैंक में और कभी उस बैंक में भ्रमित होती रही है, नया मार्ग खोजना पड़ेगा। "आर्थिक गुरूत्वाकर्षण के नियम के अनुसार वह भारत में अपना मार्ग बना लेगी जहाँ उसके लिये ब्रिटिश संस्थाओं और ब्रिटिश कानूनों का संरक्षण मिलने का अतिरिक्त आकर्षण होगा।"[35] (स्पीचेज, खंड–3, 1904, पृ0–134) भूगर्भ–सर्वेक्षण विभाग के आँकडों या इसी प्रकार की अन्य सरकारी रिपोर्टों ने भी विदेशी पूंजी–आयात को संभव बनाने की कोशिश की। जैसे, कृषि के संदर्भ में भारत सरकार को आर्थिक उत्पादनों के बारे में रिपोर्ट देने वाले सर जार्ज बाट के इस निष्कर्ष को उद्धृत करना प्रासंगिक होगा–"निश्चय ही, यदि केवल अविकसित साधनों के अंतर्गत मूल्य और उनकी सीमा को देखा जाय तो विश्व में बहुत कम ऐसे देश हैं जिनमें कृषि का इतने शानदार ढंग से विकास करने की संभावना है जितनी भारत में है।"[36,37] (सर जार्जवाट, मेमोरेंडम आन दि रिसोर्सेज ऑफ ब्रिटिश इंडिया, कलकत्ता, 1894, पृ.–5) एक महत्त्वपूर्ण तथ्य यहाँ यह भी है कि रेल को भारत के आर्थिक विकास या व्यापार या पूंजीनिवेश के 'ड्राइवर' की पदवी दी गई और विकास का प्रधान अवयव या माध्यम समझा गया। तर्क यह दिया गया कि कृषि और उद्योग दोनों का विकास रेलों पर निर्भर है।

इस समूचे साम्राज्यवादी तर्क–शास्त्र की सर्वाधिक बड़ी विसंगति यह है कि उपर्युक्त प्रत्येक साम्राज्यिक प्रयास या विचार (जो कि वास्तविकता में शोषण का प्रयास या विचार है) के बावजूद 'अल्प विकास का विकास'[38] जारी रहता है[39] और इस अ–प्रयास या अ–विकास का अपराधी भारत की यथास्थितिवादी परिस्थितियों एवं हर प्रकार के पिछेड़ेपन को बनाया जाता है। 1899 में एल्फ्रेड मार्शल ने कहा कि यह ठीक है कि भारत "पश्चिम अथवा जापान के साथ आगे नहीं बढ़ सका है..... किंतु जब हम भारत में हुई धीमी प्रगति की शिकायत करते हैं तो हमें यह याद रखना चाहिए कि प्राचीन सभ्यता के इतने विस्तृत क्षेत्र वाले और इतनी ही कठिनाइयों से ग्रस्त किसी दूसरे देश ने इतनी प्रगति नहीं की है जिसकी तुलना भारत से की जा सके।"[40] भारत की आर्थिक प्रगति की संयुक्त राज्य अमरीका से तुलना करते हुये डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर ने 1889 में लिखा कि– "पिछले पचास वर्षों में भारत की प्रगति कम

आश्चर्यजनक नहीं रही और इस बात को देखते हुये कि भारत में कितने निचले स्तर से आरंभ हुआ, यह प्रगति कुछ अर्थों में और भी तेज थी।"[41] (द इंडिया ऑफ द क्वीन एंड अदर एसेज, लंदन, 1903, पृ0–123)

साम्राज्यवादी विचारधारा के ब्रिटिश लेखकों की सामान्य धारणा यही थी कि सरकार की नीति में या 1757 के बाद विकसित हुये ब्रिटिश संस्थात्मक ढांचे में कोई दोष नहीं है। अंग्रेजी शासन अपना पूर्ण प्रयास कर रहा है। यदि कोई मौलिक कमजोरी है तो वह भारत की ही है। एक नया तर्क यह दिया गया कि सच यह है कि विकास की नीति के जो भी विरोधाभास सामने आ रहे हैं वह इस कारण से हैं कि ब्रिटिश शासन ने आधुनिकीकरण और विकास के कार्य बहुत तेजी से किये हैं। अतः आवश्यकता इस बात की है कि सुधार के ये सुकृत्य भारत की परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये धीमी गति से किये जायें। इस प्रकार यह स्थापित रूप से घोषित किया गया कि अंग्रेजी राज का दामन साफ है। जिन तीन भारतीय प्रथाओं को 'अविकास' की मुख्य बाधा माना गया वे निम्नवत हैं–

(i) छोटी आयु में विवाह के कारण अधिक संतानोत्पत्ति के फलस्वरूप जनसंख्या विस्फोट व दबाव की स्थिति बन जाती है।

(ii) सामाजिक समारोहों में फिजूलखर्ची के कारण या अन्य प्रकार की अतिव्ययता के कारण पूंजी का निर्माण नहीं हो पाता है।

(iii) इसी कारण से (पूंजी के आभाव से) जनता के बीच महत्वपूर्ण कार्य करने या अतिरिक्त प्राप्त करने या कुछ करने की महत्वाकांक्षा की प्रेरणा की महान कमी थी।

तीनों सूत्रों की सम्मिलित समझ यह बनाई जा सकती है कि आबादी के अनुपात में पूंजी का संग्रह नहीं था जो भारत के विकास की मंथर गति का मुख्य कारण था। जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है, इसी आंतरिक पूंजी के अभाव की बात करके वाह्य पूंजी के प्रवाह को भारत में निवेश हेतु आमंत्रित किया गया।

यहाँ उन अन्य अनेक लेकिन खास कारणों का भी उल्लेख किया जा सकता है जिनको औपनिवेशिक शक्ति ने भारत में आंतरिक पूंजी के तथाकथित असंचयन के लिये जिम्मेदार समझा। निश्चित रूप से यहाँ भी भारतीय ही दोषी थे। जान स्टुअर्ट मिल ने यह मत व्यक्त किया कि 'सैनिक और राजकोषीय लुटेरेपन से उत्पन्न संपत्ति की भारी असुरक्षा' के

कारण विगत काल में एशियावासी पूंजी का संग्रह नहीं कर पाते थे (अथवा संग्रहीत पूंजी को बचा कर नहीं रख पाते थे)।[42] (प्रिंसिपल्स ऑफ पॉलिटिकल इकानामी, सं. डब्ल्यू. डब्ल्यू जे. एश्ले, 1926 का मुद्रण, पृ0–18) यह भी माना गया कि व्यक्ति और संपत्ति की सुरक्षा होने से, जो कि अंग्रेजी राज ने भारत में पैदा की थी, पूंजी का संचय होगा और वह आकर्षित होगी। अंग्रेजी शासन ने बड़ा काम किया था; वह था– देश के अंदर शांति व्यवस्था स्थापित करना, बाहरी आक्रमण से सुरक्षा और निष्पक्ष विधि–व्यवस्था उपलब्ध कराना जब कि अंग्रेजी राज के पहले के समय में वाह्य आक्रमण, आंतरिक विद्रोह, प्रशासनिक अराजकता, लूटपाट और दमनकारी कराधान आदि के कारण से प्रगति के द्वार अवरूद्ध थे व देश अत्यधिक दरिद्र था।[43] यह दावा किया गया कि ब्रिटिश राज की सुव्यवस्था के फलस्वरूप पूंजी संचयन होने से एवं उसके उपयोग से प्रभावी आर्थिक विकास होगा। एक समकालीन ब्रिटिश अर्थशास्त्री ने ब्रिटिश दृष्टिकोण के इस तार्किक आधार को 'मैन्युअल ऑफ पॉलिटिकल इकॉनामी में प्रकाशित किया– "पहले यदि भारतवासी मजदूर रखते थे तो उन्हें इस बात का भरोसा नहीं रहता था कि वे मजदूरों की मेहनत से प्राप्त प्रतिफल को अपने पास रख पायेंगे। अतः हम ब्रिटिश राज से एक युक्तियुक्त लाभ की पूर्वापेक्षा कर सकते हैं, उसकी शक्ति के कारण कुछ समय के बाद प्रत्येक वर्ग को यह अनुभव हो सकता है कि संपत्ति के अधिकारों का आदर हो रहा है। जब संपत्ति को सुरक्षा प्रदान की जायेगी तो इससे बचत को प्रोत्साहन मिलेगा और जिस धन की बचत होगी, उसकी जमाखोरी होने के बजाय, आगे और पूंजी के उत्पादन में उसका लाभप्रद उपयोग हो सकेगा।"[44] (प0–87, 1883) स्पष्ट है कि प्रशासनिक सुधार को ही आर्थिक प्रगति मान लिया गया।

इस सारी साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी तर्क–साजी के बाद आवश्यकता इस बात की है कि सत्य की उपलब्धता के द्वारा वास्तविकता की परख की जाय और उस औपनिवेशिक सत्य को साफ तौर पर सामने लाया जाय–जो आर्थिक उन्नति के नाम पर अंग्रेजी राज द्वारा भारत में संपन्न किया गया।

जैसा कि हमने ऊपर देखा है कि पश्चिमी शासन के अनुप्रयोगों में कुछ विद्वानों ने ब्रिटिश सरकार की योजनाबद्ध और सचेत विकास–नीति चिह्नित की है और साम्राज्यवाद के रचनात्मक पक्ष के रूप में इसका स्वागत व महिमामंडन किया है। वे इस बात पर निरंतर बल देने के लिये प्रतिबद्ध रहे कि विकास (मुख्यतः आर्थिक जो अन्य तरह की प्रगति के लिये आधार का काम करेगा) औपनिवेशिक युक्ति का मुख्य लक्ष्य है। यहाँ सारे मामले की कुंजी

'विकास' शब्द में निहित है; पर किसका विकास ? जिस ब्रिटिश व्यापार और पूंजी को भारतीय विकास की कुंजी समझा गया उसका मूल चरित्र कुछ और था। न्यायमूर्ति रनाडे के इस कथन में औपनिवेशिक प्रयोजनों की सटीक व्याख्या मौजूद है– "अपने शासकों की नजर में भारत एक ऐसा बागान था जो ब्रिटिश एजेंटो द्वारा ब्रिटिश पोतों में भेजने के लिये कच्चा माल पैदा करता है, जिससे ब्रिटिश पूंजी और कौशल के प्रयोग द्वारा कपड़ा निर्मित किया जाता है, और उसके ब्रिटिश व्यापारियों द्वारा भारत में और अन्य अधीनस्थ देशों में अपनी ही फर्मों को निर्यात कर दिया जाता है।"[45] (पृ0–99, एसेज) वस्तुतः कच्चेमाल के निर्यात के द्वारा जहाँ ग्रामीणीकरण बढ़ा वहीं निर्यात से होने वाले प्रत्यक्ष लाभ में से किसी भी किसान को कोई हिस्सा नहीं मिल रहा था। पूंजी का एक तरफा हस्तांतरण हुआ जब कि लाभ का कुछ अंश भारतीय व्यापारी, साहूकार और भूस्वामी के हाथ लगा। दूसरी ओर, निर्यात से उत्पन्न मूल्य–वृद्धि के परिणामस्वरूप गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों की हालत और खस्ता हो गई।

साम्राज्यवादी कुतर्क का सबसे बड़ा हठ या ज्यादती यह थी कि भारतीय जीवन के इस भयावह चित्र के बावजूद ब्रिटिश लेखकों ने यह कभी नहीं माना कि विदेशी उपक्रमों के मुनाफे के निर्यात से देश का धन बाहर चला जायेगा, उनका मानना यही था कि मुनाफा उसी आय में से हो रहा है जो विदेशी पूंजी से पैदा हुई थी। यह कभी स्वीकार नहीं किया गया कि विदेशी पूंजी वस्तुतः वही है जो भारत में ही उपनिवेशकों के द्वारा शोषित या उत्पन्न की गई थी और जिसका बराबर भारत से निर्यात किया गया था। विदेशी पूंजी की भूमिका पर जोर देते हुये लगातार इस समस्या को अनदेखा किया गया कि देशीय पूंजी का उपयोग किस प्रकार और किन रूपों में हुआ है या उसका सार्थक उपयोग क्यूँ कर नहीं हो सका है। प्रयास इस प्रचार के प्रसार का रहा कि देश में आंतरिक पूंजी का संगठन नहीं है। इस झूठे प्रचार का असली सही चेहरा यह था कि अंग्रेजी शासन को चिंता इस बात की थी कि अमरीका के गृहयुद्ध के कारण उस देश में ब्रिटिश पूंजी के आगमन में कमी आ सकती थी। ऐसी स्थिति में भारत काम आ सकता था। विदेशी पूंजी की इतनी बात करते हुये जानबूझकर इस बात पर ध्यान केन्द्रित करने की कोशिश नहीं की गई कि भारत में ब्रिटिश पूंजी निवेश अपेक्षाकृत काफी कम है। यदि रेलों में लगी हुयी गारंटीयुक्त पूंजी और सार्वजनिक ऋणों को निकाल दिया जाय तो निवेश की स्थिति काफी निराशाजनक थी। हाँ, यह जरूर था कि कुछ पूंजी

उद्योगों में जरूर लगाई गई थी लेकिन वह भारतीय संसाधनों के शोषण द्वारा आर्थिक लाभ प्राप्त करने हेतु ही थी।

जहाँ तक रेल को भारतीय आर्थिक प्रोन्नति के ड्राइवर की भूमिका दिये जाने की बात है तो रेल ने चालक का किरदार तो निभाया लेकिन भारतीय नहीं अपितु ब्रिटिश लाभ की ट्रेन का। रेलों के उपयोग से औद्योगिक विकास नहीं हुआ जबकि विदेशी माल को भारतीय बाजारों में प्रवेश मिलने से आर्थिक पिछड़ेपन में ही वृद्धि हुयी, घरेलू उद्योग धंधे नष्ट हो गये। जी.वी. जोशी ने सरकार की रेलवे नीति की तत्वोन्मुखी व्याख्या की है– रेलवे पर दी गई व्याज की गारंटी, एक प्रकार से, ब्रिटिश उद्योग को दी गई भारतीय सहायता थी।[46] तिलक के शब्दों में यह –दूसरे की पत्नी को सुसज्जित करने[47] जैसा था। अतः सत्यता यह है कि रेलनिर्माण कार्य के द्वारा भारतीय बाजार को ब्रिटेन निर्मित माल के लिये खोला गया, कच्चे माल के निर्यात को सुविधा दी गई, ब्रिटिश इस्पात और मशीन उद्योग को प्रोत्साहन दिया गया, अधिशेष ब्रिटिश धन के उपयोग के लिये क्षेत्रों की खोज की गई और सशस्त्र सेनाओं के आवागमन को सरल बनाया गया।

आर्थिक विकास की ब्रिटिश सरकार की खोखली और छद्म नीतियों की जाँच के बाद जरूरत इस बात की है कि उस अंग्रेजीपरस्त विचार और व्याख्या की भी पड़ताल की जाय जो अंग्रेजी राज द्वारा किये गये तथाकथित प्रशासनिक सुधार को आर्थिक प्रगति की प्रतिभूति (गारंटी) के रूप में सुनिश्चित कर रहा था और इस रूप में विकास का दावा कर रहा था। साथ ही उस अंग्रेजीवादी और और प्राच्यवादी दृष्टिकोण के विश्लेषण की भी आवश्यकता है जो किसी भी प्रकार के अविकास या अल्पविकास के लिये भारत को ही जिम्मेदार ठहराने पर अड़ा हुआ था।

कुशल प्रशासन के द्वारा भारतीय आर्थिक हितों की बाधाओं के उपचार करने के तर्क की वास्तविकता क्या थी, यह युवा विद्वान सच्चिदानंद सिंहा के द्वारा 27 फरवरी 1903 के 'इंडियन पीपॅल' नामक पत्र में लिखित लेख के द्वारा समझी जा सकती है। सच्चिदानंद सिंहा ने लिखा कि– "जिसे लार्ड कर्जन प्रशासनिक कार्य कहते हैं, वह शोषणकार्य का ही अनुचर है। कुशल प्रशासन के बिना व्यापार समृद्ध नहीं हो सकता और व्यापार में लाभ न होने की स्थिति में प्रशासन की चिंता करना व्यर्थ है। अतः भारत सरकार का संचालन सदा ही व्यापार

मंडल की सहमति पर और प्रायः उसके निर्देश पर होता है और इसी को गोरों का दायित्व कहते हैं।"[48]

इसी क्रम में यह कहा जा सकता है कि अंग्रेजी प्रशासकों एवं समर्थकों द्वारा केवल और केवल इसीलिये प्रगति के मार्ग को अवरुद्ध करने वाली भारतीय बाधाओं का जिक्र किया गया, ताकि आत्महीनता की ग्रंथि उभार कर प्रशासन के असली चरित्र को छुपाया जा सके। अंग्रेजी राज के द्वारा दिया गया भारत के अविकास का मुख्य तर्क था–पूंजी का अभाव अर्थात् गरीबी, जो कि पूर्व के सैनिक और राजकीय लुटेरेपन तथा आबादी की अधिकता का परिणाम था। लेकिन सच्चाई यह नहीं थी। पहले, पूर्व औपनिवेशिक समय के सैनिक और राजकीय लुटेरेपन के तर्क की बात कर ली जाय। पूर्व औपनिवेशिक समय में भारत विश्वस्तरीय आर्थिक विकास के क्षेत्रों में अग्रिम पंक्ति पर था। इसके प्रमाण तत्कालीन विदेशी प्रेक्षकों, यात्रियों और बाहर से आने वाले व्यापारिक संगठनों के सदस्यों के द्वारा व्यक्त किये गये अनुभवों में खोजे जा सकते हैं–

1. 17 वीं सदी में भारत की यात्रा करने वाले तेवर्नियर ने भारत का विवरण इन शब्दों में किया– "छोटे से छोटे गाँव में भी चावल, आटा, मक्खन, दूध, सेम तथा अन्य सब्जियाँ, चीनी तथा सूखी और शीरे वाली अन्य मिठाइयाँ प्रचुर मात्रा में प्राप्त की जा सकती हैं।"[49] (ट्रैवल्स इन इंडिया, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, प्रेस संस्करण,1925, खंड–1, पृ0–238)

2. इसी प्रकार मनूची, जो कि 17 वीं सदी में औरंगजेब का मुख्य चिकित्सक बना; बंगाल की समृद्धि का भाव विभोर होकर वर्णन करता है– "मुगल शासकों के सभी राज्यों में से बंगाल फ्रांस में सबसे अधिक मशहूर है। बंगाल की बेहद उर्वरता का सबूत उसकी अपूर्व संपदा में है जो वहाँ से यूरोप भेजी जाती थी। हम बेझिझक कह सकते हैं कि वह किसी भी मामले में मिश्र से कम नहीं है बल्कि सिल्क, कपास, चीनी और नील के उत्पादन के मामले में तो वह मिश्र से भी आगे है। यहाँ फल, दाल, अनाज, मलमल और जरी तथा रेशम के कपड़े सभी चीजें भरी पड़ी हैं।"[50] (एफ.एफ. कामू: दि जनरल हिस्ट्री ऑफ दि मुगल अंपायर, वेनिस निवासी मनूची के मेमायर्स से उद्धृत) फ्रांसीसी यात्री बर्नियर के विचार भी कुछ इसी प्रकार के थे।

3. सबसे गौरतलब उदाहरण तो 1916–18 के भारतीय औद्योगिक आयोग की वह रिपोर्ट है जिसमें इस वक्तव्य के साथ ही उसे प्रारंभ किया गया है कि– "ऐसे समय में जब कि

आधुनिक औद्योगिक व्यवस्था के जन्म–स्थान पश्चिम यूरोप में असभ्य जन–जातियाँ बसी हुयी थीं भारत अपने शासकों की समृद्धि और अपने शिल्पियों की अत्यंत कलात्मक कारीगरी के लिये विख्यात था। और काफी समय बाद भी जब पश्चिम के साहसी सौदागर पहली बार भारत पहुंचे, इस देश का औद्योगिक विकास किसी भी कीमत पर अपेक्षाकृत अधिक विकसित यूरोपीय देशों से कम नहीं था।"[51] (इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पृ0–6)

स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार के लूटपाट के आतंक और भय के बीच इस प्रकार का विश्व स्तरीय वाणिज्यिक और व्यापारिक विकास संभव नहीं हो सकता है। वस्तुतः सबसे बड़े लुटेरे तो यूरोपीय व्यापारी थे जो इतनी दूर होकर भी मात्र अपनी व्यापारवादी–लाभवादी महत्वाकांक्षा के तहत भारत की चहुँमुखी समृद्धि पर आधिपत्य करने हेतु यहाँ आने का साहस जुटा सके। यह लालसा इतनी तीव्र थी कि 16 वीं से 18 वीं सदी के बीच का समय इन यूरोपीय शक्तियों के साम्राज्यवादी संघर्षों की कहानियों से भरा हुआ है। 1760 ई. के वांडीवाश के युद्ध के बाद ही संघर्ष की अनवरत श्रंखला समाप्त हुयी। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना प्रसंग के अनुकूल होगा कि उस औपनिवेशिक तर्क में, जिसमें यह कहा गया है कि वाह्य आक्रमण के भय ने तथाकथित देशीय पूंजी के संग्रह को असंभव बना दिया; कितना गलत था। क्योंकि उपर्युक्त वाह्य आक्रमणकारी ये यूरोपीय उपनिवेशवादी ही थे जिन के आने के बाद पूँजी और व्यापार का संगठन अस्त–व्यस्त हो गया। स्पष्टतः दर्शनीय है कि यह भारतीय महान संपदा और धन का आकर्षण ही था कि साम्राज्यवादी प्रवृत्तियों ने इतनी दूर की घुसपैठ की। वस्तुतः भारत पर प्रभुत्व एक गौरव का विषय था। कम से कम दो शताब्दियों तक तो यूरोप का इतिहास भारत पर अधिकार के आधार पर निर्मित और विस्थापित होता ही रहा। ब्रिटेन का अन्य उपनिवेशवादी देशों यथा–स्पेन, पुर्तगाल, हालैंड, फ्रांस, रूस और जर्मनी के साथ हुआ संघर्ष, भारत तक पहुंचने के रास्तों और भारत पर प्रभुत्व के लिये ही था। कर्जन ने 1894 में स्वयं स्वीकार किया था कि भारत पर विजय ने विश्व में ब्रिटेन की सर्वश्रेष्ठता को स्थापित किया– "जिस प्रकार डी तोक्वेल ने कहा था कि भारत की सरकार और भारत पर विजय ही वस्तुतः वे उपलब्धियाँ हैं जिन्होंने विश्व के अभिनय में इंग्लैण्ड को उसका उचित स्थान दिलाया है, उसी प्रकार एशिया में उसकी स्थिति से उत्पन्न वैभव और सम्मान ही ब्रिटिश साम्राज्य की आधारशिला हैं। प्राचीन एशियाई महाद्वीप के केंद्रस्थल पर वह उस सिंहासन पर आरूढ़ है जिसने हमेशा पूर्व पर शासन किया। ईश्वर की तरह उसके हाथ में

DISS 0,152,3,N335,5:J 152P3

त्रिशूल है और सम्राट की तरह उसके मस्तक पर ताज सुशाभित है।"[52] (माननीय एच.एन. कर्जन, प्राब्लम्स ऑफ दि फार ईस्ट, 1894, पृ0–419) अतः साधरणतया स्पष्ट है कि भारत की विजय ने ही ब्रिटेन की ही नहीं विश्व की भी समूची साम्राज्यवादी संरचना का निर्माण किया।

आबादी की अधिकता को आर्थिक पिछड़ेपन से जोड़ने वाले कुतर्क की असली पहचान रजनीपामदत्त ने अपनी पुस्तक 'आज का भारत' के 'अत्यधिक आबादी होने की भ्रांतियाँ'[53] शीर्षक अध्याय में व्यापक रूप से एकत्र किये गये आँकडों, रिपोर्टों एवं लेखों के माध्यम से की है, जो हमारे लिये काफी महत्वपूर्ण है। साम्राज्यवादी तर्क का गहराई से उत्खनन करते हुय दत्त ने तर्क के मूल स्रोत की खोज की है। उन्होंने बताया कि 1790 में फ्रांस की क्रांति और उदारतावादी सिद्धांतों के खिलाफ प्रचार करने के लिये माल्थस नामक एक प्रतिक्रियावादी पादरी ने इस झूठ को गढ़ा कि आबादी के अत्यधिक बढ़ जाने से पूंजीवाद के अंतर्गत जनता की गरीबी बढ़ जाती है। यह झूठ इतना प्रशंसित हुआ (साम्राज्यवादियों द्वारा) कि इस झूठ के जन्मदाता होने के कारण माल्थस को पुरस्कार स्वरूप ईस्ट इंडिया कंपनी के कॉलेज में प्रोफेसरशिप मिली। इस सिद्धांत का इंग्लैण्ड के कुलीनतंत्र ने आनंदविभोर होकर स्वागत किया और मानवजाति के विकास में सभी उत्कंठाओं को समाप्त कर देने वाली एक महान शक्ति कहा।[54] (संदर्भ, मार्क्सः पूंजी, खंड–1, 25 वाँ अध्याय) यहाँ यह विशेष रूप से पुनः उल्लेख किया जा सकता है कि आबादी की आनुपातिक अधिकता की भ्रांति का खंडन और उन्मूलन करने हेतु 'आज का भारत' में उल्लेखनीय प्रयास किया गया है। दत्त महोदय ने औपनिवेशिक और पूर्व– औपनिवेशिक समय के भारत और ब्रिटेन के जनसंख्या–आँकडों और आर्थिक विकास के तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा, साथ ही खाद्यान्न उत्पादन के जनसंख्या वृद्धि के साथ संबंध को भी निरंतर ध्यान में रखते हुये इस बात का सशक्त विरोध किया है, कि भारत में आबादी वृद्धि ने आर्थिक प्रगति का मार्ग अवरुद्ध किया है। यहाँ प्रसंगवश कर्जन के उस वक्तव्य को भी उद्धृत किया जा सकता है जिसमें औपनिवेशिक भारत के मुर्शिदाबाद और उसी समय के लंदन का तुलनात्मक अध्ययन व्यक्त किया गया है– "यह शहर (मुर्शिदाबाद) उतना ही विस्तृत उतना ही अधिक आबादी वाला और उतना ही समृद्ध है जितना लंदन। फर्क इतना है कि यहाँ ऐसे लोग हैं जिनके पास लंदन की तुलना में असीम संपत्ति है।"[55] (इंडियन इंडस्ट्रियल कमीशन रिपोर्ट, पृ0–249) उपर्युक्त कथन के समर्थन–मत को भी लेते हुये निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 'आर्थिक अविकास और भारतीय आबादी' के कुतर्क का एकमात्र कारण अंग्रेजी शोषण और नीतिगत अनिमियततायें थीं, क्योंकि औपनिवेशिक पूर्व के काल के आँकड़ें निश्चित रूप से कुछ भिन्न चित्र उपस्थित करते हैं।

TH-11184

Jawaharlal Nehru University Library

अंग्रेजी राज द्वारा भारत का आधुनिकीकरण किये जाने वाले विचार का एक बहुत बड़ा तार्किक दोष तब उभरता है जब साम्राज्यवादी संरचना के स्थापित और मजबूत होते जाने के साथ ही साथ अर्थात् उपनिवेशवाद की धमनियाँ कड़ी होने के साथ ही शनैः शनैः सामाजिक पिछड़ेपन और विकास के आपसी संबंध की ओर भी ध्यान देना बंद कर दिया जाता है। जबकि उपनिवेश को निर्मित करने की प्रक्रिया में इस बात का जोर–शोर से प्रचार–प्रसार किया गया था कि सामाजिक पिछड़ापन, जनता की अज्ञानता और उसका अंधविश्वास, रूढ़िवाद, जातिवाद के बंधन, गोपूजा, स्वास्थ्य विज्ञान की उपेक्षा एवं महिलाओं कि स्थिति इत्यादि का भारत के अविकास में भारी योगदान है।[56] इस वैचारिक और क्रियात्मक अंतर्विरोध का मूल कारण यह था– कि इस बात पर बल देने और उसे सर्वत्र व्याप्त करने की कोशिश की गई थी कि रेलों, आधुनिक शिक्षा, ब्रिटिश प्रशासन एवं विधि नियंत्रण आदि के प्रयास स्वरुप पुराने अप्रगतिशील सामाजिक मूल्यों एवं जीवन पद्धति का विघटन हो रहा है और सामाजिक जीवन का भी तीव्र गति से आधुनिकीकरण हो रहा है। जब कि सच्चाई इसके ठीक उलट थी। देश का आंशिक आधुनिकीकरण किया गया और केवल उतना ही जिसके द्वारा औपनिवेशिक प्रयोजनों को प्राप्त किया जा सके। शिक्षा, जो किसी भी देश या क्षेत्र के आधुनिकीकरण का प्रमुख अवयव होती है– के संदर्भ में ब्रिटिश दृष्टिकोण क्या था, यह हीड्रिक के निम्न कथन से समझा जा सकता है– "औपनिवेशिक शासन अपनी प्रजा को एक सीमा तक ही शिक्षित करते थे। उस सीमा के बाद प्रौद्योगिकी की संस्कृति का विकसित होना वे रोक देते थे।"[57] (डी.आर. हीड्रिक, दि टेन्टकल्स ऑफ प्रोग्रेस : टेक्नोलाजी ट्रांसफर इन दि एज ऑफ इम्पीरियलिज्म, 1850–1940, न्यूयार्क, 1988) वस्तुतः अंग्रेजी शासन को यह बोध था कि उच्चतर शिक्षा के उपयोग से नये घातक संबंध विकसित हो सकते हैं। अतः 1872 में आयोजित पहली डिसेनियल मिशनरी कांफ्रेंस ने यह टिप्पणी की कि– "विधर्मी मस्तिष्कों की उच्चतर शिक्षा उन्हें हमारे खिलाफ और भी मजबूती से खड़ा करती है, अपनी शिक्षा का इस्तेमाल वे हमारा सिर फोड़ने वाली लाठियों के रूप में करते हैं।"[58] (डी.एल. गास्लिंग, साइंस एंड रिलीजन इन इंडिया, मद्रास, 1976, पृ0–13)

यह भी द्रष्टव्य है कि शैक्षिक कार्य के लिये जो भी अध्यापक और पेशेवर इंग्लैण्ड से भारत भेजे भी गये, उनका मुख्य कार्य यही था कि वे अपनी ही 'जाति' पैदा कर सकें। जहाँ तक वैज्ञानिक प्रगति और प्राविधिक शिक्षा का सवाल है, तो वास्तविकता यह थी कि आष्ट्रेलिया और कनाड़ा के विपरीत भारत को इस संबंध में ऐसा निम्नतर स्तर प्राप्त हुआ, जो 'नियंत्रित स्थितियों' में संचालित होता था। मौलिक शोध–कार्य कठिन सवाल था और जो भी

सरकारी शोध–कार्य किये जाते थे, वे सर्वे और सैन्य संगठनों के द्वारा किये जाते थे। प्राविधिक और वैज्ञानिक शिक्षा के प्रति सरकारी चिंता किस कदर हीन थी, यह विश्व के विभिन्न इंजीनियरिंग कॉलेजों के स्टॉफ के तुलनात्मक अध्ययन के आंकड़ों से देखा जा सकता है। टोक्यो इंजीनियरिंग कॉलेज 1873 में, रूड़की इंजीनियरिंग कॉलेज के बहुत बाद स्थापित हुआ था और 1903 आते–आते इसके स्टाफ में 24 प्रोफेसर, 24 सहायक प्रोफेसर और 22 लेक्चरर थे। मैसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नालॉजी 1865 में स्थापित हुआ था और 1906 आते–आते इसमें 306 अध्यापक हो गये थे। दूसरी तरफ 100 वर्षों के अस्तित्व के बावजूद, यानी 1947 में, रूड़की के पास सिर्फ तीन प्रोफेसर, छह सहायक प्रोफसेर और बारह लेक्चरर थे।[59]मुख्य बात यह है इस सरकारी बेपरवाही के बावजूद प्रशासनिक नियंत्रण की आँख इतनी कठोर थी कि कुछ अच्छी नियत के वैज्ञानिकों को चेतावनी देने में भी संकोच नहीं किया गया। औपनिवेशिक व्यवहारवाद व्यक्तिगत दृष्टिकोणों को पूरी तरह आर्थिक हितों के अधीन कर देने की माँग करता था। 1902 में एक युवा और प्रतिभाशाली वनस्पतिशास्त्री को यह सलाह दी गई कि– ".....फिलहाल आपके लिये अच्छी नीति यह होगी कि रानकुलस आर्वेन्सिस (या ऐसी ही मजेदार नामराशियों) के अंगों को गिनने का काम वनस्पतिशास्त्र के स्काच प्रोफेसरों के ही जिम्मे छोड़ दें और सरकार को बढ़िया–बढ़िया कृषि रिपोर्टों से खुश रखें। आपने देखा ही होगा कि वन विभाग में जो आदमी टीक लकड़ी ज्यादा बेच ले वह चोटी पर पहुंचता है और भूगर्भशास्त्र में वह चोटी पर जाता है जो कोयला (या फिर लोहा) पा लेता है– जब आप चोटी पर पहुंच जायें तो रानकुलस आर्वेन्सिस के अंग गिनें चाहे जो भी ऊलजलूल काम आपको मजेदार लगें, करें।"[60] {सी.बी. क्लार्क (रायल बाटेनिक गार्डन, क्यू) द्वारा आइ.एच. बर्किल को, 9 दिसम्बर 1902, क्यू अर्काइल, बर्किल को लिखे पत्र फोलियो, 35} ओल्डहैम वाट और रास को भी कई अवसरों पर इसी प्रकार हताश किया गया था। अतः आसानी से समझा जा सकता है कि विक्टोरिया कालीन भारत में शिक्षा पिछड़ी ही रही और शोध कार्य या विज्ञान मूलतः सरकार की ओर उन्मुख रहे।[61] शिक्षा और विज्ञान औपनिवेशिक उद्यम का महत्वपूर्ण अंग थी, 'आधुनिकीकरण के मुखौटे' और 'सांस्कृतिक आवेष्ठन' के बतौर। इस सब पर भी प्राच्यवादी दंभ गौर–तलब है– हास्यास्पद होने की सीमा तक, विल्किसन का कथन है– "हिंदू राष्ट्र के आत्मगौरव के लिये इससे ज्यादा प्रशंसात्मक बात और क्या हो सकती है कि हमने जिन सत्यों की स्थापना की है, उनकी व्याख्या करने के लिये हम उनके महान और सम्मानीय ऋषियों को उद्धत करते हैं"।[62] (जे. विल्किंसन, आन द यूज ऑफ सिद्धांताज इन दि वर्क आफ नेटिव एजुकेशन, जे.एस.बी. III 1834, पृ.–504–19)

'क्याप' की कहानी की विशेषता इस बात में है कि भले ही सारे स्वप्न क्याप होने को उत्सुक हों, या फिर जीबीजौल 'फस्क्याधार' बन चुका हो; गरीबी एक अच्छा, मजाक और अभाव के बीच फसक गढ़ने की शक्ति ही जीवनीशक्ति का रूप ले चुकी हो; लेकिन इन सब पर भी उस गहन रचनाशील सामाजिक दृष्टि को 'क्याप–दशा' की प्राप्ति होने से बचा लिया गया है, जिसके द्वारा कोई भी बड़ा साहित्यकार सत्य की खोज और सृष्टि करता है और इसी बहाने साहित्य की रचना करता है। सभी प्रकार की उपर्युक्त औपनिवेशिक छद्म संरचनाओं की पहचान उपन्यास में है, यह दूसरी बात है कि कहानी के ढांचे में ढले होने के कारण 'पहचान' सारगर्भित और सांकेतिक रूप में उपलब्ध हो। जोशी जी के गहन अवलोकन ने औपनिवेशिक तंत्र की उस साजिश का पर्दाफाश कर दिया है जिसमें विकास या आधुनिकीकरण के नाम पर आर्थिक शोषण का तंत्र रचा गया था। उपन्यास में हैरिसन जो अप्रत्यक्षतः उपनिवेशवादी सत्ता– प्रतिष्ठान का प्रतिनिधि समझा जा सकता है, का मूल उद्देश्य औपनिवेशिक विजय या आर्थिक लाभ कमाना ही था। निम्न कथन में यह आसानी से देखा जा सकता है– 'प्रकृति को पूजने वाले फस्कियाधारवासियों को हैरिसन ने प्रकृति को दुहना सिखाया। उसने उन्हें कस्तूरीमृग और मुनाल पक्षी को बंदूक से मारना सिखाया। विलायती सुंदरियों के इत्र के लिये कस्तूरी और हैटों के लिये मुनाल के रंगीन परों का उसने यहाँ से निर्यात करवाया। इससे उसे तगड़ी और गाँव वालों को भी थोड़ी आमदनी हुयी।'[63] आगे उपन्यासकार ने यह स्पष्ट किया है कि विजय या लाभ के रास्ते को सुगम बनाने के लिये हैरिसन ने फस्कियाधार में कुछ नये मार्गों और नयी प्रथाओं का चलन करवाया अर्थात् व्यापारिक हितों को सरल–सुलभ करने हेतु अवधारणात्मक विकास की प्रक्रिया शुरू की गई। लेकिन ध्यान रहे, यह सब अंग्रेज उपनिवेशवादियों की भाँति, आंशिक था और उतना ही था जितना उपयोगी हो सकता था– "दूसरी तरफ के दुर्गम जंगलों तक पहुंचने के लिये उसने खच्चरों के जा सकने लायक पगडंडियाँ बनवाईं और इस इलाके का पहला झूला बनवाया। हिमबंग्गा उर्फ हिमगंगा फस्कियाधार से थोड़ा आगे बढ़ने पर एक भयंकर रूप से गहरी और तंग घाटी में घुस जाती है। दुस्साहसी हैरिसन ने उस घाटी को पार कर के एक ऐसे स्थान का पता चलाया, जहाँ से तराई की ओर जाने के लिये खच्चर मार्ग बनाया जा सकता था। उसने वह मार्ग बनवा लिया और जंगल से पेड़ काटकर उनकी लकड़ी नदी में बहा देने की प्रथा शुरू की। उस मार्ग से थोड़ा पहले हिमबंग्गा तिब्बत की तरफ घूम जाती है। वहाँ उसने तारों की बाड़ लगवायी ताकि लकड़ियाँ वहीं अटक जायें।'[64] यह सब एक व्यापक अर्थ में

औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजी साम्राज्यवादियों द्वारा शोषण के साधन के रूप में टेलीग्राफ और रेललाइनें बिछाने के सदृश ही था।

किसी भी साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी संरचना में औद्योगीकरण और चिकित्सा संबंधी ज्ञान का विकास किन प्रयोजनों के तहत होता है यह हैरिसन द्वारा करवाये गये खनिज–सर्वेक्षणों और जड़ी–बूटियों की स्थानीय जानकारियों को 'पेटेंट' या अधिकृत और निर्यात करने के लिये की गई चेष्टाओं पर गौर फरमाते हुये समझा जा सकता है– "बताते हैं कि जब देवदार का वह घना वन लगभग कट गया, कस्तूरी मृग और मुनाल पक्षी लगभग सारे मारे गये तब हैरिसन को यह भय सताने लगा कि मैं दिल में यह अफसोस लेकर मरुंगा कि अपनी औलाद के लिये और औलाद जैसी ही प्रजा के लिये आमदनी का कोई जरिया छोड़कर नहीं जा रहा हूँ। तो उसने बुढ़ापे में खनिजों का व्यापक सर्वेक्षण खुद किया और यहाँ की जड़ी–बूटियों का मंगितूराम की मदद से। आखिरी बार खाट पकड़ लेने से पहले वह यहाँ से तरह–तरह की वनस्पतिजन्य दवायें थोक में निर्यात करने की और मैगनेसाइट, स्लेट, आबरक, खड़िया वगैरह की खानें खोलने की योजनायें लगभग बना चुका था।"[65] वस्तुतः हैरिसन ने आर्थिक हितों की संपूर्णता के लिये "फस्कियाधार के भूगोल, इतिहास, तत्व, भूगर्भ वन प्रदेश सभी को अपने ..... अध्ययन और परीक्षण का विषय बनाया था।"[66]

इस प्रकार हैरिसन के द्वारा शोषण की वह दमनकरी प्रक्रिया पूरी की गई जिसके परिणामों ने निर्धन फस्कियाधार को उसकी समृद्ध प्राकृतिक संपदा से भी पूर्णतया वंचित कर दिया– "लोग तो पहले ही गरीब थे यहाँ की प्रकृति भी गरीब हो गयी। कस्तूरी मृग और मुनाल देखने को भी नहीं बचे और देवदार के घने जंगलों की याद दिलाने के लिये बस ठूंठ ही रह गये। हैरिसन अपनी दी हुई खुशहाली ही नहीं अपना किया हुआ विकास भी अपने साथ ले गया।"[67] यहाँ 'खुशहाली' और 'विकास' दोनों के संदर्भ स्पष्ट कर देना परम आवश्यक है, क्यों कि संदर्भ की व्याख्या न करने की कोई भी गुंजाइश साम्राज्यवादी आलोचकों को अपने 'तर्क–ए–तरकश' खोलने का पुनः अवसर दे सकती है। हाँ, तो खुशहाली के हाल यूँ हैं– "हैरिसन के आने के पहले यहाँ के लोग जानते ही नहीं थे कि खुशहाली किस चिड़िया का नाम है और संसार में भोग–विलास के लिये क्या कुछ मौजूद है ? उदाहरण के लिये नशे के नाम पर फस्कियाधार वाले जंगली उगने वाले भांग–गांजे का ही उपयोग करते आये थे ..... हैरिसन ने विलायती ढंग की शराब का चलन करा दिया जिससे उनके भीतर आक्रामक सी आकांक्षायें जागने लगी।"[68] सहज ही समझा जा सकता है कि जब

खुशहाली इतनी "आक्रामक' है तो उसके न होने के परिणाम भी कितने आक्रामक हो सकते हैं। हुआ भी यही– "हैरिसन के आने के पहले वे निर्धन ही थे। हैरिसन के चले जाने के बाद वे दरिद्र भी हो गये।"[69] यहाँ 'दरिद्र' शब्द भी व्यापक व्याख्या की मांग करता है।

'विकास' शब्द की रपट लेनी भी आवश्यक है, जैसा कि पहले भी संकेत किया जा चुका है। वैसे तो 'विकास' की एक रिपोर्ट पिछले पृष्ठों पर लिखी जा चुकी है किंतु पूरी रिपोर्ट लिखना कम से कम कस्कियाधार वासियों के साथ, उपन्यास के बाहर न्याय की एक कोशिश हो सकती है। हैरिसन के "मरने के बाद उपेक्षा के कारण उसका बनाया हुआ पुल टूट गया और स्कूल ढ़ह गया। खच्चरों के लिये उसने जो मार्ग बनवाये थे वे इस्तेमाल न होने के कारण धीरे–धीरे लगभग मिट ही गये।"[70] और, इस प्रकार हैरिसनी विकास उपनिवेशवादी संगठन के विघटित होते ही बिखर गया। हैरिसन के द्वारा खोले गये स्कूल का बंद होना, एक सीमा में संताप का कारण हो सकता था लेकिन तभी जब भविष्य में स्कूल के द्वारा अपनी ही साम्राज्यवादी 'जाति' की संताने न पैदा किये जाने की कोई गारंटी होती। लेकिन जिस कारण से हैरिसन का स्कूल बंद किया गया था अर्थात् मंगितूराम की मास्टरी खत्म करने के लिये, वह जातिवादी वर्चस्वशीलता की भारतीय प्रवृत्ति की दुःखद सच्चाई की ओर संकेत जरूर करता है।

फिलहाल हैरिसन के द्वारा फस्कियाधार में वह घटित किया गया जो किसी भी शोषणकारी व्यवस्था द्वारा कहीं भी घटित किया जाता है। हैरिसन ने एक चूषक यंत्र की भांति फस्कियाधार की समस्त संपत्ति को सोख लिया, प्रकृति के साथ आदमी को भी। और, "अपनी विरासत में कुछ छोड़ गया तो बस फस्कियाधार के जनमानस में एक अप्रीतिकर परिवर्तन"[71] फस्कियाधार के निर्धन जन के मन को हैरिसन ने इस 'दुर्दम असंतोष और उत्कट अभिलाषा' से भर दिया था कि जो मस्तिष्क पहले किसी भी खुशहाली का जिक्र सुनकर बेहिचक कहता था 'हमारी तरफ से क्याप हुई' यानी होती होगी हमारी बला से वह हैरिसन के जाने के बाद क्याप होकर कहने लगा कि 'हमने क्या जो सोचा था और क्याप जो हो गया'। आगे भी– 'फस्किया' और 'जुगाड़िया' की उपाधि रखने वाले फस्कियाधार वालों का, जो हैरिसन पूर्वकाल में जीवन की न्यूनतम आवश्यकताओं के लिये ही जुगाड़ करते थे, शेष सब अपनी कल्पना में या कल्पना से पा लेते थे, हैरिसन के जाने के बाद का आत्मानुभव यह था– "हैरिसन ने हमारे स्वर्ग को हमारी कल्पनाओं से निकालकर हमारी योजनाओं में क्या ला बिठाया, हमें हमेशा के लिये जीते जी नर्क भोगने के लिये अभिशप्त कर दिया।"[72] सारांश यह कि करेले

पर नीम भी मढ़ दिया गया। आर्थिक, प्राकृतिक और सामाजिक शोषण के साथ–साथ भावानात्मक शोषण के दुष्चक्र ने संपूर्ण शोषण की दुर्घटना संपन्न की।

करेले पर नीम मढ़े जाने की इस क्याप कहानी में भले ही अभी तक लेखकीय प्रयास की तरफ से कुछ भी क्याप नहीं हुआ है, फिर भी प्रवाह या भावना में ही शायद 'क्याप' में जोशी जी द्वारा परिकल्पित निम्न उपपत्ति के विरुद्ध आपत्ति उठाई जा सकती है। जोशी जी की व्याख्या है– "हैरिसन हम से हमारी नादानी बहुत हद तक छीन ले गया लेकिन अपनी कारस्तानी हमें ठीक से सिखा नहीं पाया उसने सपने खाने–पीने , सपने ओढ़ने–बिछाने वाली हमारी बिरादरी में भोग का चाव पैदा कर दिया लेकिन हममें से किसी को भी अपना–जैसा कर्मठ, दुस्साहसी और अपने आप में मस्त इंसान नहीं बना पाया।"[73] इस छोटे से परिच्छेद में ही कई जगह विरोध की गुंजाइश है। 'नादानी' में जहाँ प्रतीचिवाद और देसीवाद की गंध ली जा सकती है (प्राच्यवाद को दुरूस्त करते समय जिसकी ओर एडवर्ड सईद ने विशेष रूप से आगाह भी किया है)[74] वहीं 'भोग का चाव पैदा' हो जाने में और कर्मठ, दुस्साहसी और मस्त इंसान नहीं बन पाने में कथन के विरोधाभास पर भी गौर करने की जरूरत है। उपन्यासकार ने प्रमुख छायावादी कवि प्रसाद की महत्वपूर्ण पंक्ति साथ ही कामायनी के भौतिकवादी दर्शन को भी विस्मृत कर दिया है– 'कर्म का भोग, भोग का कर्म/यही जड़ का चेतन आनंद'। स्पष्ट है कि भोग के चाव में ही कर्मठ, दुस्साहसी और सुखद जीवन का रहस्य छिपा हुआ है। अतः न तो भावना में आकर किसी भी प्रकार के आत्महंता प्रतीचिवाद या देसीवाद की आवश्यकता है और न ही किसी भी प्रकार की आत्मकुंठा और हीनता के बोध की।

आत्मक्षुद्रता के किसी भी भाव के विरुद्ध–निश्चित रूप से यह आत्मश्लाघा का विषय नहीं है वरन् निष्पक्ष निरीक्षण का परिणाम है, कि आलोचना में छपे अपने लेख 'उत्तर उपनिवेशवादः एक भारतीय विमर्श', में लेखक अवधेश कुमार सिंह ने भारतीय और अफ्रीकी औपनिवेशिक समाजों की तुलना करते हुये एक रोचक और विशिष्ट निष्कर्ष को प्राप्त किया है। उनके अनुसार– 'भारत यदि उपनिवेशीकरण की प्रक्रिया सह सका तो इसका एक कारण उसके द्वारा अपनी स्मृति को न खोना था। स्मृति में दरारें अवश्य पड़ीं पर पूरी–की–पूरी स्मृति का लोप या भ्रंश नहीं हुआ। इसके ठीक दूसरी ओर अफ्रीकी समाज स्वयं को उपनिवेशवादी आंधी के आगे टिका नहीं सके।"[75] स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार की आत्महीनता या पराजय बोध के कारण मानसिक शिथिलता नहीं होनी चाहिये, जबकि हमारी स्मृति काफी हद तक सुरक्षित है (यद्यपि वास्तविक खतरे आज काफी अधिक हैं)। हमारे लिये निष्कर्ष से अधिक

कारण महत्वपूर्ण हैं जो अवधेश कुमार ने इस संदर्भ में दिये हैं। उनके अनुसार– अफ्रीकी समाज भारतीय समाज की तुलना में अधिक विभाजित था जब कि भारतीय व्यवस्था में टिके रहने की क्षमता अधिक थी। साथ ही भारतीय संस्कृति, दर्शन और चिंतन की परंपराओं में आत्मसातीकरण एवं अभिभूतीकरण की क्षमता सर्वाधिक थी। एक अन्य बात और थी कि भारत में देशी संस्थाओं को उस तरह नहीं उखाड़ फेंका गया जिस तरह अफ्रीका या लैटिन अमरीका में फेंका गया। अपने सारे प्रबोधन के दावे के बावजूद भारत के उपनिवेशक इतने स्वार्थी और चतुर थे कि उन्होंने भारतीय संस्थाओं, सामंतशाही, नवाबशाही या जमींदारी को तब तक विस्थापित करने की कोई कोशिश नहीं की जब तक इनके द्वारा राह में कोई रोड़ा नहीं अटकाया गया। बल्कि इनका उपयोग आर्थिक शोषण के औजारों के बतौर किया गया। अफ्रीकी उपनिवेशों में ऐसा नहीं हुआ।[76]

उपनिवेशवाद की किसी भी समझ की दृष्टि से 'क्याप' एक महत्वाकांक्षी उपन्यास है। 'क्याप' में औपनिवेशिक संरचना के संबंध में लगभग अंतिम बात या दृष्टि यह है कि उपन्यास में धर्म तथा उपनिवेशवाद के छद्म संबंध के सुविचारित संकेत भी उपलब्ध हैं। जोशी जी की प्रौढ़ औपनिवेशिक संबंधी समझ का इससे बेहतर दूसरा उदाहरण अप्राप्य ही होगा कि उनके पास धर्म के अवैध औपनिवेशिक उपयोगों को पहचानने की दूरदृष्टि है। यद्यपि यह विषय अभी तक की कहानी की चर्चा में कमोवेश अविचारित रहा है, लेकिन शोध की दृष्टि से यह काफी महत्वपूर्ण है। धर्म का सत्ता से गंभीर संबंध रहा है। स्वभाव और स्वरूपगत भेद के बावजूद दोनों ने जीवन के प्रारंभ से ही एक दूसरे की अस्तित्व–रक्षा का कार्य कौशलपूर्वक किया है। हटिंग्टन की विख्यात पुस्तक 'सभ्यता का संघर्ष' (जो कि निःसंदेह सत्ता के लिये ही है) में 'सभ्यता' पद की परिभाषा के मूल में धर्म की ही प्रभावकारी भूमिका है। साम्राज्यवादी या उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों का मुख्य प्रयोजन सत्ता से ही जुड़ा हुआ है अतः सत्ता की सुलभ प्राप्ति के लिये धर्म की प्रभावकारी पहुंच को हमेशा ध्यान में रखा गया है। पोप के द्वारा पुर्तगाली ट्रेड़िग कंपनी को किस प्रकार धर्म की ढ़ाल देकर अफ्रीका एवं भारत में उपनिवेश निर्मित करने के लिये प्रोत्साहित किया गया था, यह हम इस अध्याय के प्रारंभ में ही देख आये हैं।

प्रंसगवश, 'क्याप' में, हैरिसन के आने के पहले अर्थात् आंतरिक उपनिवेशीकरण के समय की कहानी यूँ है– "बाहर से आये क्षत्रियों ने अपने स्थानिक नुमाइंदों को भाले से मृग मारना सिखाया और पूज्य मृग को मारने के लिये कुछ पावन तिथियाँ अपने ही बनाये हुये

ब्राह्मणों द्वारा नियत करवा दीं।"[77] वहीं व्यवस्थित उपनिवेशवादियों यानि हैरिसन के आने के बाद की कहानी इस प्रकार है– हैरिसन एक पादरी है। ईसाई धर्म के प्रचारक के छद्म रूप में वह अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं को पूरा करने की सुविधा खोजता है– "हार (1842 में, अफगान युद्ध में) के बाद पादरी हैसिन ने यह तय पाया कि स्थानिक लोगों को जीतने के लिये शस्त्र से बेहतर शास्त्रार्थ है, बंदूक से बेहतर बाइबिल है।"[78] देखा जा सकता है कि जहाँ एक ओर क्षेत्रीय स्तर पर भी क्षत्रियों एवं ब्राह्मणों अर्थात् सत्ता एवं धर्म में एक सनातन संबंध स्थापित है वहीं हैरिसन के लिये भी साधन महत्वपूर्ण नहीं है। उसका चरम लक्ष्य औपनिवेशिक विजय या आर्थिक हितों की प्राप्ति है। कहानी में आगे यह बात और स्पष्ट होती है कि चर्च की सेवा करना हैरिसन का प्राथमिक उद्देश्य नहीं है, जब कि सैण्डहर्स्ट द्वारा हैरिसन के सामने यह बार–बार स्पष्ट किया जाता है कि चर्च की सेवा ही, फस्कियाधारवासियों को ईसाई बनाना ही उसका प्राथमिक उद्देश्य होना चाहिये। चर्च से विमुख होने पर हैरिसन को डाँट भी पड़ती है, कुछ उसी प्रकार जैसे अंग्रेजी प्रशासन द्वारा वाट, रास, ओल्डहैम या बर्किल जैसे वैज्ञानिकों को पड़ी थी कि क्यों कर अंग्रेजी राज के समर्थन के प्राथामिक उद्देश्य को भुलाया जा रहा है। सैण्डहर्स्ट हैरिसन के कान में फुसफुसाता है– "तुम अपने देश से इतनी दूर इन जाहिलों को मोक्ष दिखलाने के लिये आये हो, इनके मोह में पड़ने के लिये नहीं।"[79] सत्ता का अहंकार सामने है, चाहे वह धर्म का हो या साम्राज्यवाद का हो। फस्कियाधार में एक बार अपने आपको स्थापित कर लेने के बाद, यानि की फस्कियाधार की औपनिवेशिक जीत के उपरांत हैरिसन अपने धार्मिक अभियान को भूलना श्रेयस्कर समझता है क्योंकि ऐसा न करने पर उसे अपने आर्थिक प्रयोजनों के न पूरा हो पाने का खतरा मंडराता हुआ दिखाई देता है। सैण्डहर्स्ट का डर भी नहीं रहता क्योंकि अब वही फस्कियाधार का वास्तविक राजा है। हैरिसन 'चर्च को मोक्षाकांक्षियों के नए रेवड़ का उपहार' देने के सैण्डहर्स्ट के प्रति किये गये अपने पूर्व वायदे को उस समय भूल जाता है जब पं. दिवाकर ज्यू द्वारा उसे चेतावनी दी जाती है, कि ऐसा क्यूँकर के वह अपना गुड़गोबर करना चाहता है। यह कुछ उसी तरह है कि, जैसा कि पहले भी उल्लेख किया जा चुका है, कि औपनिवेशिक भारत में अंग्रेजी राज ने यहाँ कि सामाजिक संस्थाओं को तब तक नहीं छेड़ा जब तक कि उन्हें उनकी तरफ से कोई बाधा नहीं दिखाई पड़ी वरन् इन संस्थाओं का साधन के रूप में उपयोग ही किया गया। क्याप में भी देखाा जा सकता है कि हैरिसन ने राजा हरीसिंह बनने की प्रक्रिया में पुजारी दिवाकरज्यू के ज्ञान और धार्मिक प्रभाव का किस तरह अपने हित में उपयोग किया– "तो पहली रात पंण्डित दिवाकर जोशी ने फस्कियाधारवासियों

को अपनी कल्पना के नवीनतम उपहार के रूप में एक कहानी सुनाई, जिसके अनुसार 'अनेकानेक जन्मों पहले हैरिसन हम लोगों का राजा था और उसका नाम था हरी सिंह।''[80] 'मलिका' की कस्तूरीकोट की जीत भी दिवाकरज्यू की विखंडनवादी साधना का ही फल था।

यद्यपि इसमें पं. दिवाकर ज्यू को तत्कालिक लाभ भी हुये, राजा हरी सिंह की सम्पन्नता की गंगा से उनको भी कई–कई बाल्टी पानी मिला, वह दीवान राठ हुये, 'हामण होते हुये पैसे के बल पर अपनी बेटियों को अपने से जरा ऊंची लेकिन बाामणों में सबसे नीची श्रेणी के (पितलिया बामण या ब्रास फिफ्टी टू) घरों की बहुयें बनाने में सफल हुये।''[81] लेकिन ये क्षुद्र लाभ फस्कियाधार वालों के संपूर्ण शोषण और उनके बीच घटित 'अप्रीतिकर परिवर्तन' के उपलक्ष्य में थे। धर्म की यह विध्वंसकारी भूमिका उसकी पहुंच का सर्वाधिक भयावह पक्ष है और उसके वास्तविक चरित्र और मूल उद्देश्यों के कितना उलट भी है। आज के उत्तर औपनिवेशिक समय एवं संकट में भी धर्म की विखंडनवादी राजनीति प्रभावी भूमिका अदा कर रही है, जिससे सचेत रहने की आवश्यकता है।

इस प्रकार, अंततः फस्कियाधार अथवा भारत या अन्य कहीं भी घटित उपनिवेशवाद का सारांश यह है कि उपनिवेशवाद किसी भी रूप में विनिमय की संभावनाओं को रोकता है। वहाँ एकतरफा आवागमन ही प्राथमिक है। किसी भी प्रकार का हस्तांतरण है भी– ज्ञान प्रणालियों और प्रौद्योगिकियों इत्यादि का स्थातंरण– तो वह सीमित और निर्देशित है, साथ ही व्यापक स्तर पर वह एकतरफा आवागमन की प्रक्रिया को मजबूत करने हेतु ही है। यहाँ व्यवस्थाओं का श्रेणीकरण ही नहीं है बल्कि संस्कृतियों का सूत्रीकरण भी है। इसके सांस्कृतिक प्रबोधन के दावों ने आर्थिक दुष्चक्रों की अपेक्षा अधिक स्थायित्व और बेधक क्षमता का प्रदर्शन किया है। ब्रिटिश आगमन के पूर्व के भारत ने इस स्तर की दुहरी मार कभी भी नहीं झेली थी। यही कारण है कि इस्लाम वह महान खतरा कभी नहीं पैदा कर पाया, जिसे अंग्रेजी राज ने अपने अल्प शासन में संभव कर दिखाया। अंग्रेजी साम्राज्यवादी आर्थिक दावों के विरूद्ध सबसे बड़ी सच्चाई तो यही है कि भारतीय पूंजीवाद ने जो भी विकास किया वह अंग्रेजी शासन से संघर्ष करते हुये ही।[82] अतः प्रत्येक झूठे दावे के बीच ब्रिटिश उपनिवेशवाद का एक मात्र और अंतिम सच था– भारत की अथाह गरीबी, असमान्य जहालत और सामान्य अशिक्षा। ''1950 में अनाज की प्रतिव्यक्ति उपलब्धता एक दिन में 334.2 ग्राम, दालों की 60.7 ग्राम और वर्ष में कपड़े की 10 मीटर थी। लोगों की आर्थिक स्थिति का अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि प्रति 1000 में मृत्युदर 27.4 थी और 1000 जीवित बच्चों में मृत्युदर 175–190 थी। एक औसत भारतीय मात्र 32 वर्ष की आयु की अपेक्षा कर सकता था। चेचक, प्लेग तथा

हैजे जैसी महामारियों से लाखों लोग मर जाते थे... ।"[83] इसी क्रम में शिक्षा की हालत यह थी कि– "1951 में केवल 25% पुरूष और 7.9% महिलायें ही शिक्षित थीं, पूरे देश में केवल 13590 माध्यमिक विद्यालय और 7,288 उच्चविद्यालय थे।"[84] ये क्याप आंकड़े भारत में औपनिवेशिक संकट की क्याप कहानी को स्वयं कह रहे हैं। औपनिवेशिक फस्कियाधार की क्याप फसक हम बांच ही चुके हैं चुनांचे आंकड़े कहानी की शक्ल में हैं अतः आंकड़ों की बेचैनी में हम अपर्युक्त संख्याओं से काम चला सकते हैं। क्योंकि, यदि फस्कियाधार उपन्यासनुमा नहीं होता तो उसके आंकड़े भी ऐसा ही रोना रो रहे होते।

अब समय है कि औपनिवेशिक फस्कियाधार की और प्रकारांतर से औपनिवेशिक भारत की कही गई इस क्याप कहानी को यहीं विराम दिया जाय क्योंकि उपन्यास का मूल प्रश्न होते हुये भी यह एकमात्र प्रश्न नहीं है। उपन्यास महान प्रश्नों की एक अनुत्तरित श्रंखला है। सर्जनात्मकता के मूल्य पर उपन्यास की कोशिश यह है कि वह फसक के रूप में सारे प्रश्न पाठक के सामने रखना चाहता है। मंशा शायद यह भी हो कि कहीं क्याप कथा के दुःख से 'सहृदय' पाठक का दुखांत न हो जाय; अतः पाठकीय दृष्टि की गंभीरता इस बात में होनी चाहिये कि वेदना को शक्ति मानते हुये वह इन प्रश्नों को फसक न रहने दे। पाठकीय कर्त्तव्य यह है कि अन्य प्रश्नों को भी उनके संदर्भों से युक्त किया जाय, अनुत्तरित को उत्तरित बनाया जाय और फसकों के बीच लेखकीय मंतव्य को स्पष्ट किया जाय। अतः यह 'औपनिवेशिक' को आगे बढ़ाने की दायित्व पूर्ण बेला है।

[1] हरिश्चंद्र वर्मा (सं.), 2000, मध्यकालीन भारत, भाग–2 (1540–1761), हिंदी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृ0–712। वस्तुतः यह समझना आवश्यक है कि 1498 में आशाअंतरीप (Cape of Good hope) के रास्ते भारत तक एक सीधा समुद्री मार्ग खोजने के पीछे वास्कोडिगामा का क्या अभिप्राय था? पंद्रहवीं शती के आरंभ में पुर्तगाल के शासक डान हेनरीक जिसे हेनरी द नेवीगेटर (Henry the Navigator) कहा जाता था, ने भारत के चलिये एक सीधे समुद्री मार्ग की खोज आरंभ कर दी थी। इसके पीछे उसका दोहरा उद्देश्य था; एक तो अरबों एवं अपने यूरोपीय प्रतिस्पर्धियों यानी वेनिस (Venetians) एवं जिनोवा (Genoese) के व्यापारियों को समृद्ध पूर्वी व्यापार से निकाल बाहर करना और दूसरे, अफ्रीका एवं एशिया के काफिरों को ईसाई बनाकर तुर्कों एवं अरबों की बढ़ती हुयी शक्ति को संतुलित करना। इन दोनों लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु लगातार प्रयास किये गये। वास्तव में ये दोनों लक्ष्य एक दूसरे के पूरक और समर्थक थे।

[2] विशेष उल्लेख के लिये द्रष्टव्य– डा0 पुरुषोत्तम अग्रवाल का लेख 'मुझको डर आतिशे गुल से है.....'; संदर्भ– कथादेश, फरवरी 2003

[3] मनोहर श्याम जोशी, 2001, क्याप, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–17

[4] एडवर्ड डब्ल्यू. सईद, 1993, 'कल्चर एण्ड इम्पीरियलिज्म' चाटो एंड विंडस, पृ0–3

[5] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–15

[6] पूर्व, पृ0–16

[7] (i) पीटर चाइल्ड्स और पेटिक विलियम्स उपनिवेशवाद को एक देश के समुदायों को दूसरे देशों में जाकर रहने से संदर्भित करके देखते हैं। इस घटना के बिना उपनिवेशीकरण की क्रिया अधूरी ही रहती है। ('एन इंट्रोडक्शन टु पोस्ट कोलोनियल थ्योरी', 1997, प्रेंटिस हाल, लंदन, पृ0–227)

(ii) जीबीजौलमें 14 वीं शताब्दी में घटी घटना अगर आज घटी होती तो उसे निश्चित रूप से उत्तर–उपनिवेशवाद या उत्तर–साम्रज्यवाद के दायरे में लाकर परिभाषित किया जा सकता था ?

[8] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–18

[9] पूर्व, पृ0–26

[10] एडवर्ड डब्ल्यू. सईद, 1978, ओरियंटलिज्म, रोटलीज एंड केगन पाल लिमि., लंदन

[11] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–26

[12] एडवर्ड डब्ल्यू. सईद, ओरियंटलिज्म, पृ0–31

[13] वर्तमान साहित्य, शताब्दी आलोचना पर एकाग्र–2, जून 2002, पृ0–181, (लेख– 'एडवर्ड सईद और उत्तर–उपनिवेशवादी अधिकल्पना; राजनाथ)

[14] एडवर्ड डब्ल्यू. सईद, ओरियंटलिज्म, पृ0–41

[15] पूर्व, पृ0–40

[16] पूर्व, पृ0–207

[17] बिपिन चंद्र, 1998, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, पृ0–76

[18] पूर्व, पृ0–76

[19] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–19

[20] एडवर्ड डब्ल्यू. सईद, ओरियंटलिज्म, पृ0–328

[21] आलोचना, अक्टूबर–दिसंबर, 1988, पृ0– 67.77 (लेख– हेगेमनी, आधार और अधिरचनाः अंतोनियो ग्राम्शी की अवधारणायें, अलखनारायण)

[22] आलोचना त्रैमासिक, सहस्त्राब्दी अंक छह, जुलाई–सितम्बर, 2001, पृ0–8 (लेख–संस्कृति और भूमंडलीकरण, एजाज अहमद / अनु. प्रियदर्शन)

[23] पूर्व, पृ0–9

[24] रजनी पाम दत्त, 1977, आज का भारत, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, पृ0–66

[25] दीपक कुमार / अनु. चंद्रभूषण 1998, विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज, ग्रंथशिल्पी, नई दिल्ली, पृ0–240

[26] पूर्व, पृ0–245

[27] पूर्व, पृ0–241

[28] बिपिन चंद्र, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, पृ0– 76

[29] पूर्व, पृ0–76–77

[30] यह अलग बात है कि उनकी 'संसाधनों के विकास' से संबंधित धारणा अस्पष्ट थी और उनमें से अधिकांश उद्योगीकरण के संदर्भ में गलत कल्पना रखते थे। उनके अनुसार कृषि उत्पादन, बागान और विदेशी व्यापार में वृद्धि ही आर्थिक विकास थी।

[31] बिपिन चंद्र, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, पृ0– 81

[32] पूर्व, पृ0–79–80

[33] पूर्व, पृ0–82

[34] पूर्व, पृ0–82

[35] पूर्व, पृ0–84

[36] रजनी पाम दत्त, आज का भारत, पृ0–46

[37] स्पष्ट है कि ब्रिटिश शासन ब्रिटिश पूंजी को गारंटी देने का काम कर रहा था

[38] बिपिन चंद्र, 2001, समकालीन भारत, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, नई दिल्ली, पृ0–25

[39] शोषण की संगति अविकास से ही हो सकती है।
[40] बिपिन चंद्र, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, पृ0– 77
[41] पूर्व, पृ0–77
[42] पूर्व, पृ0–78
[43] तत्कालीन यथार्थ और आँकडों को सामने रखकर साधारणतया ब्रिटिश सरकार के इस दावे में निहित प्राच्यवादी भावना को देखा जा सकता है। वास्तविकता यह है कि अंग्रजों से बड़ा लुटेरा भारत के इतिहास में अन्य कोई नहीं है।
[44] बिपिन चंद्र, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, पृ0– 79
[45] पूर्व, पृ0–94
[46] पूर्व, पृ0–96
[47] पूर्व, पृ0–96
[48] पूर्व, पृ0–102
[49] रजनी पाम दत्त, आज का भारत, पृ0–44
[50] पूर्व, पृ0–44–45
[51] पूर्व, पृ0–45
[52] पूर्व, पृ0–30–31
[53] पूर्व, पृ0–65
[54] पूर्व, पृ0–67
[55] पूर्व, पृ0–44
[56] पूर्व, पृ0–66। रजनी पाम दत्त ने इसे 'गाड़ी को घोड़े के आगे रखना' कहा है।
[57] दीपक कुमार / अनु. चंद्रभूषण, विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज, पृ0–244
[58] पूर्व, पृ0–246
[59] पूर्व, पृ0–243
[60] पूर्व, पृ0–242
[61] यद्यपि ऊष्ण कटिबंधीय चिकित्सा के क्षेत्र में कुछ विकास हुआ रोनाल्डरास मलेरिया के कारण मच्छर तक पहुंचे, टामस ओल्डहैम ने एक भूस्तर वैज्ञानिक नकशा तैयार किया, जे. सी. बोस ने भौतिकी और वनस्पतिविज्ञान के दायरों को समीप किया, रामचंद्र ने अवकलन गणित पर महतवपूर्ण शोध किया इत्यादि कुछ उल्लेखनीय वैज्ञानिक कार्य हुये, लेकिन ये सभी व्यक्तिगत परिश्रम व योजना के परिणाम थे, न कि औपनिवेशिक नीति या सहायता के।
[62] दीपक कुमार / अनु. चंद्रभूषण, विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज, पृ0–247
[63] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–27
[64] पूर्व, पृ0–27
[65] पूर्व, पृ0–30
[66] पूर्व, पृ0–26
[67] पूर्व, पृ0–31
[68] पूर्व, पृ0–32
[69] पूर्व, पृ0–32
[70] पूर्व, पृ0–31
[71] पूर्व, पृ0–32
[72] पूर्व, पृ0–32
[73] पूर्व, पृ0–32
[74] एडवर्ड डब्ल्यू. सईद, ओरियंटलिज्म, पृ0–328, 338 / कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म, पृ0–276,277
[75] आलोचना त्रैमासिक, सहस्त्राब्दी अंक–6, जुलाई–सितम्बर 2001, पृ0–43 (लेख– उत्तर–उपनिवेशवाद : एक भारतीय विमर्श, अवधेश कुमार सिंह / अनु. अमिताभ खरे)
[76] पूर्व, पृ0–43। अफ्रीकी उपन्यासकारों चिनुआ अचेबे और न्युगी वा' थियोन्गो की रचनाओं से अफ्रीकी उपनिवेशीकरण की प्रक्रियाओं की गहरी समझ प्राप्त की जा सकती है। अचेबे का उपन्यास 'थिंग्स फाल अपार्ट' इस दृष्टि से महान रचना है।
[77] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–15
[78] पूर्व, पृ0–19
[79] पूर्व, पृ0–20
[80] पूर्व, पृ0–24
[81] पूर्व, पृ0–28
[82] बिपिन चंद्र, भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद पृ0–7। भारत के औद्योगिक विकास में बड़े पैमाने पर तेजी ठीक उसी अवधि में आई जब विश्व पूंजीवाद से भारत की औपनिवेशिक अर्थ व्यवस्था के संबंध कुछ समय के लिये कमजोर पड़ गये थे अथवा उनमें गिरावट आई थी। दूसरी ओर, इन संबंधों के दृढ़ होने पर पिछड़ेपन में वृद्धि हुई और प्रगति अवरूद्ध हुई। बीसवीं सदी में, भारत के विदेश व्यापार और विदेशी पूंजी के आगमन में तीन बार कमी अथवा बाधा आई– अर्थात् दो विश्वयुद्धों के दौरान और 1929–34 में आई भारी मंदी के दौरान।
[83] बिपिन चंद्र, समकालीन भारत, पृ0–27
[84] पूर्व, पृ0–29

अध्याय–2

स्वप्न के अंत का संकट–2

'क्याप' में 'स्वप्न के अंत के संकट' की अन्य अवस्थाओं और उनके मूल कारणों की खबर मुख्यतः वामपंथी विरोधाभासों एवं साम्यवादी पार्टियों के विचलन की समीक्षा में उपलब्ध है। जैसा कि पहले भी संकेत किया गया है– जिस अतिरिक्त विस्तार के साथ उपन्यास में मार्क्सवादी पार्टियों की विफलताओं का 'पोस्टमार्टम' किया गया है, उससे आज की अधिकांश सामाजिक–राजनीतिक दुर्दशाओं के मूल में–उपन्यासकार की राय–वामपंथी विफलता ही लगती है। औपनिवेशिक फस्कियाधार से आगे की कथा प्रमुख रूप से भारतीय वामपंथ की कमजोरियों, उसके दुचित्तेपन, उसके 'लाफ्टर योगा' बन जाने और सबसे बढ़कर, औपनिवेशिक या सामाजिक समझ होने के बाद भी क्रांति के स्वप्न के कॉमिक कहानी बन जाने की ट्रेजेडी की रिपोर्ट है। लेकिन उपन्यास की भिन्न शैली या विशेषता इस बात में है कि– अपने मुख्य प्रयास अर्थात् भारत में मार्क्सवादी अनुप्रयोगों पर टिप्पणी करते हुये भी पिछली सदी के भारत के राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक इतिहास की लगभग प्रत्येक खबर की सूचना उपन्यास में है। यह सहज भी है, क्योंकि दोनों बातें एक दूसरे से अंतः संबंधित हैं। स्वतंत्र भारत बनने की प्रक्रिया में अर्थात् भारत के राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलन में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाने के बावजूद, यहाँ तक की तत्कालीन प्रमुख राष्ट्रीय पार्टी कांग्रेस में भी समाजवादी उभार स्पष्ट होने के बावजूद, क्योंकर साम्यवादी आंदोलन स्वतंत्रता आंदोलन की बागड़ोर संभाल नहीं सका, यहाँ तक की स्वतंत्र भारत के भविष्य के इतिहास में भी कोई उल्लेखनीय सफलता हासिल नहीं कर सका; इस बात का गहरा संबंध जितना कम्युनिस्ट पार्टियों की नीतियों से है, कुछ कम लेकिन कुछ न कुछ भारतीय जनता और व्यवस्था के उस जटिल चरित्र से भी है जिसको समझने में भारतीय वाम हमेशा नाकाम रहा। 'क्याप' में भारतीय जनता और व्यवस्था के इस जटिल चरित्र को समझने का भी प्रयास किया गया है; मार्क्सवादी पार्टियों की असफलताओं को समझने के परिप्रेक्ष्य में ही सही। गांधी व नेहरू का समाजवाद, कांग्रेसी बुर्जुआजी का दलित दर्शन, देश की गरीबी, भारतीय परिस्थितियों में स्त्री व प्रेम की विवशता, आज की संप्रदायवादी और धर्मनिरपेक्षतावादी राजनीति, भ्रष्ट नौकरशाही, माफिया युद्ध, जातिवाद, स्थानिकवाद या उपराष्ट्रवाद की राजनीति, सरकार की आरक्षण नीति, मुक्त बाजार एवं उदारीकरण का सच और उपभोक्तावाद आदि कुछ ऐसे कठोर सच हैं जो देश की स्वतंत्रता को क्याप बनाते हैं। भारतीय वामपंथ के विरुद्ध असली चुनौती ये ही हैं। इन महत्वपूर्ण विषयों पर अलग से विचार की आवश्यकता है।

19वीं शताब्दी के मध्य से मार्क्सवाद ने दुनिया के सभी उत्पीड़नों के विरूद्ध संघर्षरत लाखों करोड़ों लोगों को प्रेरणा दी है। भारत के मुक्ति–संग्राम ने भी मार्क्सवाद से प्रेरणा ग्रहण की। वामपंथ की उपस्थिति ने हमेशा ही हिंदुस्तान के जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में अनेक भूमिकायें निभाई हैं। 1930 में कांग्रेस को जो प्रगतिशील समाजार्थिक अंतर्वस्तु प्राप्त हुयी उसका काफी श्रेय वामपंथ को ही था। इसी प्रकार 1950 के दशक के आरंभ में वामपंथ द्वारा सरकार को बाध्य किया गया कि वह पेप्सू राज्यों और तेलंगाना में प्रगतिशील कानून पास करे व लागू करे। विदेश नीति, नागरिक स्वतंत्रता, धर्मनिरपेक्षता और भूमि सुधार की दिशा में वामपंथ का असर स्वीकार किया जाता रहा है। भारतीय जनता ने भी वामपंथ से जुड़कर ऐसे ही स्वप्न देखे। एक ऐसे न्यायपरक, विवेकपूर्ण व समतामूलक समाज की संभावना तलाश की जाने लगी जहाँ कोई भी मनुष्य दूसरे के श्रम पर निर्भर नहीं होगा। लेकिन सब कुछ विद्रूप ही साबित हुआ। कुछ फुटकर उपलब्धियों, जिनको ऊपर गिनाने का प्रयास भी किया गया है, को छोड़कर वामपंथ भारत में असफल ही रहा। आज सोवियत समाजवादी भवन के भरभराने के बाद तो, अर्थात् 'द गाड़ दैट इज फेल्ड' के बाद उपर्युक्त संकट और अधिक गहरा हो गया है। प्रतिबद्ध लोग आत्मरक्षा की स्थिति में आ गये हैं। हद यह है कि मार्क्सवाद के विरोधियों के द्वारा उसके अंत की घोषणा के साथ ही उसे एक बीमार सामाजिक विचारधारा व एक अव्यवहारिक योजना करार कर दिया गया है। उपन्यास 'क्याप' भारतीय वामपंथ की असफलताओं के कारणों में जाते हुये इन पूंजीवादी कुतर्कों से भी जिरह करता है।

वामपंथ औपनिवेशिक भारत में अपने उदय के तुरंत बाद के कुछ समय में उज्जवल भविष्य से युक्त दिखाई देता था। कम्युनिस्ट पार्टी, प्रगतिशील मंच, कांग्रेस सोशलिस्ट पार्टी, अनेक छोटे–छोटे वामपंथी समूहों व गांधी, नेहरू और सुभाष के नेतृत्व में वाम अपने आरंभिक समय में काफी आकर्षक था। लेकिन समय के साथ उसमें प्रदीर्घ निष्क्रियता के दौर आते गये। महत्वपूर्ण निर्णयों के समय वह असमंजस की स्थिति में ही रहा। यद्यपि भारत की औपनिवेशिक एवं औपनिवेशकोत्तर दरिद्रता, अभाव, अमानवीय शोषण एवं असमानता ने हमेशा ही उसे पनपने के लिये उर्वरा जमीन प्रदान की थी। संदर्भित उपन्यास में भी फस्कियाधार की दरिद्रता और गरीबी नायक को उसके मार्क्सवादी सिद्धांतों के प्रयोगों एवं विकास हेतु लाभकारी जमीन उपलब्ध कराती है लेकिन गति अंततः वही होती है जो भारतीय वाम की होती है। नायक तो घनघोर रूप से वामपंथी हो जाता है लेकिन वाम को क्याप ही होना है। नायक की गरीबी उसके कका से उसे विरासत में मिली हुयी कम्युनिस्ट पुस्तकों एवं पत्रिकाओं का उपयोग किस रूप में कराती है; यह दर्शनीय है, इस संदर्भ में नायक की गरीबी का

कष्टप्रद दर्शन भी किया जा सकता है– "इस विरासत का मेरे द्वारा उपभोग किये जा सकने का एक अनूठा उपाय मेरी इजू यानी माता जी को सूझा। उन्होंने कका की अनबिकी पत्रिकाओं को फर्श पर बिछाकर मेरे और मेरी भुलि यानी छोटी बहन के लिये बिछौना बना दिया। कका की किताबों से उसने सिरहाना बनाया और बाकी अनबिकी पत्रिकाओं के लिये उन्होंने पुरानी ऊनी चिथड़ों से एक खोल–सा बनाकर हमारे लिये रजाई सिल दी। यहाँ यह बता दूँ कि बिछौना, सिरहाना, रजाई तीनों ही हम फस्क्याधार वालों के लिये शब्द और वस्तु दोनों के ही रूप में लगभग अपरिचित थे और गरीबों के लिये आज भी हैं। लोग बाग बर्फानी रातों में ठण्डे फर्श पर सो सकने की तैयारी में पहले कपड़े उतारकर लोट लगा–लगा कर खूब ठिठुर लेते थे और फिर कपड़े पहन कर ठिठुरन के बाद थोड़ी गर्मी का सुख लेते हुये आराम से सो जाते थे।"[1]

वस्तुतः वामपंथ की इस निष्क्रियता एवं असफलता का मूल कारण यह है कि "उनमें कभी भी एक वैकल्पिक राजनैतिक नेतृत्व के झंडाबरदारों के रूप में उभरने की क्षमता नहीं थी।"[2] वे मार्क्सवाद को विश्व के सामने एक वैकल्पिक दृष्टिकोण के रूप में रखने में कभी सफल नहीं हुये। 1947 के पूर्व के युग में उनकी सबसे बड़ी असफलता यह थी कि वे कभी भी एक आत्मनिर्भर साम्राज्यवादी विरोधी संघर्ष को संगठित करने में सफल नहीं हुये। या तो उन्होंने बुर्जुआवादियों द्वारा संचालित राष्ट्रीय आंदोलन से अपने आपको अलग कर लिया या फिर उसके पिछलग्गू बने रहे। उनकी अधिकांश ऊर्जा इन प्रश्नों पर बहस के दौरान ही खर्च हुयी– "भारतीय बुर्जुआवादियों का झुकाव पूर्णतया साम्राज्यवाद की ओर है अथवा नहीं, साम्राज्यवाद विरोधी संघर्ष में हिंसा की क्या भूमिका होनी चाहिये; संघर्ष के दौरान किस वर्ग का वर्चस्व होना चाहिये, भारत में मुख्य संघर्ष सामंतवाद अथवा अर्धसामंतवाद, पूंजीपति, जमीदारों के विरुद्ध है अथवा भूमिधरों के विरुद्ध, भारतीय बुर्जुआवर्ग राष्ट्रवादी है अथवा नहीं; वह साम्राज्यवाद के साथ निरंतर सहयोग कर रहा है अथवा आत्मनिर्भर पूंजीवादी व्यवस्था का निर्माण कर रहा है, भारतीय क्रांति का राजनीतिक लक्ष्य राष्ट्रीय स्वतंत्रता, राष्ट्रीय लोकतंत्र है अथवा समाजवाद, इत्यादि।"[3] इस प्रकार इस दुचित्तेपन ने भारतीय वामपंथ को बहुत नुकसान पहुंचाया। आज भी यह भारतीय वामपंथ की अपनी ही विशेषता है। आजादी के बाद भी नेहरू सरकार के समर्थन व विरोध एवं संसदवाद व सशस्त्र संघर्ष को लेकर, साथ ही पूंजीवाद के चरित्र के प्रति भी द्वन्द्व बना रहा।

'क्याप' की विशेषता यह है कि उसने भारतीय वाम के इस दुचित्तेपन को गहरे जाकर रेखंकित किया है। वाम के संपूर्ण इतिहास के बरक्स दुचित्तेपन, जो कहीं–कहीं तिचित्तापन भी हो जाता है, का एक पूरा इतिहास ही कलमबद्ध कर डाला है। इस दुचित्तेपन की समीक्षा का सारांश उपन्यास के शब्दों में– नायक की आत्मरोष या शोधन की शैली में यूँ है कि– "मैंने अपने दोचित्तेपन को कमजोरी नहीं, ताकत माना। उलटे मैंने एकचित्तेपन को भयंकर कमजोरी ठहराया। उसे बचकानी जिद का दर्जा दिया। इन्फेनटाइल डॉक्ट्रिन पुकारा। परस्पर विरुद्धता को मैंने द्वन्द्वात्मकता ठहराया और उसे क्रांति के मार्ग की रुकावट नहीं, पुल का दर्जा दिया। वैसे यह न समझा जाय कि हम महात्मा मार्क्स के चेले ही इस परस्पर–विरोध के मारे हुये थे। यह रोग सर्वव्यापी था। शायद इसलिये बोलचाल में पॉलेटिशियन को 'पाल्टि–शियन' कहा जाता रहा है।"[4]

भारत में मार्क्सवादी पार्टियों की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही है कि वे भारत की वास्तविक परिस्थितियों को, प्रभुत्वशील समाजिक ताकतों की सही पहचान करने में नाकाम रहीं। देश के बदलते हुये यथार्थ व जीवन के अनुकूल रणनीति बनाने में वे हमेशा असफल रहीं और इसी क्रम में सफलता से भी हमेशा दूर रहीं। उदाहरणस्वरूप कम्युनिस्ट पार्टी को यह स्वीकार करने में 8 साल लगे कि भारत ने राजनैतिक आजादी प्राप्त कर ली है। वर्ग को हमेशा जाति के ऊपर रखा गया, जब कि यह भुला दिया गया कि जाति भारत की कटुतम सच्चाई है। यहाँ यह भी ध्यान देने की बात है कि अगर जाति की सही समझ बनाई भी गई तो वह गलत अनुप्रयोगों व नीतियों द्वारा समर्थित की गई। स्वतंत्रता मिलने के ठीक पहले हुये सांप्रदायिक दंगों के होने में मार्क्सवादी पार्टी के 'जाति' संबंधी गलत निर्णयों एवं प्रयोगों का अप्रत्यक्ष लेकिन प्रभावी योगदान था– "मार्क्सवाद की सही समझ के आधार पर कम्युनिस्टों ने स्वीाकर किया कि भारत में बहुत सी जातियाँ... हैं। इन जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार होना चाहिये। ..... इस सही नीति को अपनाने के बावजूद व्यवहार में कम्युनिस्टों ने बड़ी गलतियाँ कीं। जातियों और उनके आत्मनिर्णय के अधिकार के बारे में मार्क्सवाद की सही व्याख्या को ताक पर रखकर वे व्यवहार में सिर्फ मुसलमानों को एक अलग जाति माानने लगे, उनके आत्मनिर्णय की बात करने लगे और मुस्लिम लीग की फिरकापरस्ती, फूटपरस्ती और साम्राज्यवादपरस्ती को बेनकाब करने की जगह उसके पाकिस्तान के नारे का समर्थन करने लगे। इस संबंध में जब उन्हें अपनी गलती का अहसास हुआ, तब तक बहुत नुकसान हो चुका था।"[5]

वस्तुतः भारतीय वाम लोगों को उनकी सामाजिक परिस्थितियों से अवगत कराने, उन्हें राजनैतिक रूप से जागरूक, सक्रिय एवं संगठित बनाने एवं उज्जवल भविष्य के निर्माण में उनकी अपनी भूमिका साथ ही मार्क्सवाद के उपयोग के महत्व को समझाने में सदैव असफल रहा। उसने हमेशा विचारधारा एवं सिद्धांतों की अवहेलना की, सिद्धांतों के प्रचार द्वारा क्रांति की जमीन तैयार करने की बात तो दूर रही। वामपंथ के लिये वह व्यापक सांस्कृतिक क्रांति एक स्वप्न ही रही जो जीवन के सभी क्षेत्रों एवं पहलुओं अर्थात् आर्थिक, राजनैतिक, बौद्धिक तथा सांस्कृतिक सभी पर अपना नियंत्रण स्थापित कर सकती। दूसरी ओर, भारत में धर्म, जाति स्त्री, बच्चे, दलित, राष्ट्रीय संसकृति आदि पर मार्क्सवादी पार्टियों के विचार कभी भी अधिक उत्साहवर्धक नहीं रहे। यह जानते हुये भी कि जाति भारत में सर्वहारा वर्ग के एकीकरण में सबसे बड़ी बाधा है, वामपंथ ने जाति व्यवस्था के विरुद्ध कोई मुहिम नहीं छेड़ी है। ध्यान देने योग्य है कि ऐसा मुख्यतः विचारधारा को पीछे रखने या उसकी अवहेलना का परिणाम है जो कि दुचित्तापन की ही परिणिति है– "एक तो यह कि सैद्धांतिक तथा आंदोलन संबंधी कार्यों को मिला दिया जाता है। इसका परिणाम यह होता है कि सैद्धांतिक प्रयास को अक्सर आंदोलन मान लिया जाता है जबकि आंदोलन को केवल सिद्धांत की ही भाषा में ही जारी रखा जाता है और जिनके विरुद्ध यह आंदोलन किया जाता है वे इसे समझ ही नहीं पाते। इसी प्रकार एक सही सैद्धांतिक आधार के अभाव में भारतीय मार्क्सवादी एक सिरे से दूसरे सिरे तक छलांग लगाते रहते हैं। बाद के सिद्धांतवादियों ने प्रत्येक छलांग को पहले की छलांग के लिये दंड कहकर पुकारा परंतु चूंकि सिद्धांत में ही कमियाँ हैं इसलिये एक सिरे से दूसरे सिरे तक की ये छलांगे रोकी नहीं जा सकीं। (स्पष्ट है कि) सामान्य मार्क्सवादियों को सिद्धांत के अभाव में कितनी बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है।"[6]

गौरतलब है, कि किस राजनीतिक शक्ति का विरोध या समर्थन करें इसका कोई निश्चित मापदंड भी कम्युनिस्ट पार्टी के पास कभी नहीं रहा। 1950 के दशक में जहाँ नेहरू–विरोध का जोर रहा वहीं 1958 में अजयघोष एवं ई.एम.एस. नंबूदरीपाद के नेतृत्व में प्रतिपादित 'अमृतसर थीसिस' के बाद "मान ही लिया गया कि समाजवादी क्रांति का एक रास्ता संसद से भी होकर जाता है।"[7] इस प्रकार संसदवाद के रूप में सुविधाभोग का नया रास्ता खुला। यद्यपि इस संसदवाद का प्रयोजन (?) दूसरा था– "बेहतर यह है कि राष्ट्रवादी बुर्जुआजी कांग्रेस की पीठ पर सवार हो जाओ और जब प्रतिकूल परिस्थितियाँ पार कर लो तब कांग्रेस के सिर पर खड़े होकर क्रांति का तांडव नृत्य शुरू कर दो। इसे राष्ट्रवादी बुर्जुआजी का चरित्र भीतर से बदलने की रणनीति कहा जाता रहा था।"[8] जाहिर है कि

सुविधावादियों ने इस कम्युनिस्ट रणनीति को कभी पूरा नहीं होने दिया। कम्युनिस्ट सुविधावादियों के लिये स्वर्ग का रास्ता एक बार खुल जाने के बाद इन कम्युनिस्टों की ओर से हर उस रास्ते को खोला जाने लगा जिसकी दिशा किसी स्वर्ग की ओर उन्मुख हो, चाहे वहाँ पार्टी को अपने मार्क्सवादी आदर्शों एवं लक्ष्यों के साथ किसी भी कीमत तक समझौता क्यों न करना पड़ गया हो। 1967 के चुनाव के उपरांत– "जिस जनसंघ और स्वतंत्र पार्टी को घोर प्रतिक्रियावादी कहकर वे कांग्रेस के साथ एकता की बातें करते थे, अब उन्हीं पार्टियों के साथ मिलकर उन्होंने उ.प्र., बिहार, आदि में सरकारें बनाईं। गैर कांग्रेसी सरकारें ही अब उनका सर्वस्व बन गईं और गैर कांग्रेसवाद ही समाजवाद की दिशा में बढ़ने का एक मात्र रास्ता।"[9] यह प्रक्रिया 1977 एवं 1984 में भी दोहराई गई, कमोबेश आज भी जारी है।

"केरल में पार्टी के चुनाव जीत जाने के बाद तो यह सोंचा जाने लगा कि बुर्जुआजी के वन प्रदेश में क्रांति का रास्ता खोलने के लिये बैलेट–बक्से का फावड़ा भी इस्तेमाल किया जा सकता है।"[10] ध्यान देने की बात यह है कि इसी संसदीय संसोधनवाद के समर्थन एवं विरोध को लेकर ही कम्युनिस्ट पार्टी में फूट पड़ी और 1964 में उसके दो एवं 1967 में नक्सलवाड़ी आंदोलन के दौरान 3 टुकड़े हो गये। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय बुर्जुआजी का पिछलग्गू बनकर समाजवादी समाज का स्वप्न पूरा करने की नीति ने संसदीय अवसरवाद के रूप में साम्यवादी आंदोलन को काफी क्षति पहुंचाई है, उसकी शक्ति को विभाजित करने का ही काम किया है। चाहे वह चीन का भारत पर आक्रमण करने का अवसर हो या फिर इंदिरा का अपातकाल, कम्युनिस्ट दल कभी एक मत नहीं हो सके। जबकि सुविधावादियों ने कांग्रेस–भक्ति के नाम पर स्वर्ग अवश्य ही सिद्ध कर दिखाया– "सुविधावादियों के स्वर्ग का रास्ता पकड़ने का एक और अवसर तब आया जब चीन ने भारत पर आक्रमण कर दिया और चीन का विरोध करना देशभक्ति और नेहरुभक्ति दोनों का तकाजा बन गया।"[11] आगे आपातकाल के संदर्भ में भी स्वर्ग भोग के दर्शन किये जा सकते हैं– "सुविधावादियों के स्वर्ग का रास्ता पकड़ने का जितना उत्तम अवसर यह था उतना ही उत्तम एक और अवसर तब प्रस्तुत हुआ जब.....डार्लिंग डाटर ने स्वयं आपातकाल लागू करके एक और क्रांतिकारी कदम उठाकर दिखा दिया।"[12] अतः देखा जा सकता है कि '.....बुर्जुआजी में बकायदा शामिल हो जाने के बावजूद ताल ठोंक कर बुर्जुआजी को दंगल के लिये....."[13] ललकारने के ढोंग से "सभी दिशायें तो नहीं सभी सेमिनार साम्यवादी"[14] हो गये। उपन्यास के नायक का यह प्रस्ताव भारतीय वामपंथ की वास्तविकता के कितना समीप है– "एक एक्स कम्युनिस्ट मैनिफैस्टो निकाला जाय और उसमें लिखा जाय भारत के कम्युनिस्ट बुद्धिजीवियों एक हो! तुम्हारे पास

खोने के लिये सिर्फ सर्वहारा से अपनी प्रतिबद्धता है और पाने के लिये जमाने भर का ऐश्वर्य भोग!"[15]

'क्याप' में भारतीय मार्क्सवादियों के क्रांति–स्वप्न के उस महत्वपूर्ण विरोधाभास को गंभीरता से उठाया गया है जहाँ क्रांति को जोखिमवाद या एडवंचरिज्म घोषित कर के किसी भी प्रकार के जोखिम से बचने की सलाह दी जाती है। जबकि इस बात को विस्मृत कर दिया जाता है कि क्रांति से बड़ा जोखिम दुनिया में शायद ही दूसरा हो। जोखिम का 'ज' क्रांति के 'क' से पहले ही आता है, बाद में तो सर्वथा नहीं। क्रांति के प्रश्न पर हमेशा धैर्य रखने की नीति अपनाई जाती है। उपन्यास में डॉक्साहब नायक से कहते हैं–"धैर्य क्रांति की पहली शर्त है। और देखो प्रेम का मार्ग हो, क्रांति का मार्ग हो, अधैर्य हमेशा काम बिगाड़ता है, बनाता कभी नहीं है। सफल रणनीति उपयुक्त अवसर की प्रतीक्षा करती है। तुम इस मामले में जरा भी जल्दबाजी मत करो।"[16] इस प्रकार सफल रणनीति के नाम पर क्रांति को हमेशा प्रतीक्षारत रखा गया। इस पर भी "रणनीतियों का ऐसा है कि वह परिस्थितियों के अनुसार बदलती रहती हैं।"[17] बार–बार घोषित किया गया कि– "कामरेड आशावादिता क्रांति की पहली शर्त है।"[18] निष्कर्ष यह हुआ कि– "क्रांति लिखो, क्रांति बोलो, क्रांति भजो लेकिन क्रांति करो मत।"[19] कम्युनिस्ट पार्टी का बौद्धिक सांस्कृतिक प्रवक्ता बनने के उपरांत उपन्यास का क्रांतिकारी नायक भी पार्टी के इस दुचित्तेपन या तिचेत्तेपन का शिकार हो जाता है– "दुचित्ता इस विषय में कि क्रांति क्योंकर होगी ? उसे मजदूर करेंगे कि किसान ? या दोनों ? या मजदूरों के नेतृत्व में किसान ? क्रांति सभी देशों में एक साथ करानी होगी कि सभी देशों में एक–एक करके होगी ? और अगर एक–एक करके होगी तो क्या जहाँ पहले हो गयी है वहाँ से दूसरे देशों के लिये निर्यात की जा सकेगी ? ..... दुचित्तापन पैदा करने वाला एक दिलचस्प मुद्दा यह था कि क्या क्रांतिकारी राज कायम होने से पहले राष्ट्रवादी बुर्जुआजी के राज का दौर आना जरूरी है ? और अगर ऐसा है तो क्या क्रांतिकारियों को राष्ट्रवादी बुर्जुआजी में घुसपैठ कर लेनी चाहिये ? दुचित्तापन पैदा करने वाला तीसरा मुद्दा यह रहता था कि परिस्थितियाँ क्रांति के अनुकूल हैं कि नहीं ?"[20]

आज भले ही दुनिया क्रांति के स्वरूप को लेकर दो धड़ों में बंटी नजर आती हो– एक तरफ मार्क्स, माओ, लेनिन के रूप में हिंसावादी दल हो या दूसरी तरफ का बर्क, ताकवील, गांधी, हन्ना ओरंट का अहिंसावादी दल[21] लेकिन क्रांति के बारे में यह राय जरुर सर्वसम्मत है कि– "क्रांति का अर्थ है– सामाजिक जीवन में आकस्मिक, त्वरित और

युगांतरकारी परिवर्तन जो सारे सामाजिक संबंधों, संस्थाओं और विचार–प्रणाली को एकदम नये रूप में ढाल दे और जिसका प्रभाव चिर स्थायी हो।"[22] भारतीय मार्क्सवादी ऐसी किसी भी त्वरित, युगांतरकारी और चिरस्थायी कार्यवाही के प्रति हमेशा सुस्त ही रहे। और, जब भी ऐसे प्रयास किये भी गये– तेलंगाना आंदोलन हो या रेलमजदूरों की हड़ताल हो या फिर नक्सलवाड़ी क्रांति हो, उनका परिणाम दुःस्वप्न या दुर्गति ही साबित हुआ। सबसे दुःखद पक्ष यह था– कि स्वयं तथाकथित "....समाजवादी नेहरु ने न केवल निजाम की रियासत को स्वाधीन भारत में शामिल कर लिया बल्कि रजाकारों के साथ–साथ तेलंगाना के क्रांतिकारी किसानों को भी कुचल कर रख दिया। रेल मजदूरों की हड़ताल भी नाकाम बना दी गयी। इस स्वप्न भंग से हम लोग इतने सयाने हुये कि जब आगे चलकर नक्सलबाड़ी में किसानों ने विप्लव किया तब खुद हमने ही उसे कुचल देना बेहतर समझा। तब बहुत आश्चर्य हुआ जब नक्सलबाड़ी आंदोलन को हमारे ही धड़े के गृहमंत्री ने कुचलवाया।"[23] इस प्रकार जहाँ राजेश्वर राव और बी.टी. रणदिवे का देखा और दिखाया देसी क्रांति का सपना चकनाचूर हुआ वहीं रेल मजदूरों को आज भी क्रांति के इंजन की तलाश है।

वास्तविकता यह है कि भारतीय वामपंथ ने हमेशा देशी परिस्थितियों को क्रांति के लिये अनुपयुक्त ठहराया, साथ ही यह माना कि "आधुनिकता की तरह क्रांति भी विदेश से आयेगी। आखिर क्रांति का विचार भी तो विदेश से आया और हमारी पार्टी की स्थापना भी विदेश में ही हुयी थी। स्वयं क्रांतिकारी सोवियत संघ वाले शुरू में यह मान कर चले थे कि ब्रिटेन के उपनिवेश भारत के कम्युनिस्टों का निर्देशन विलायती कम्युनिस्ट पार्टी को ही करना चाहिये।"[24] इस प्रकार देखा जा सकता है कि "क्रांतिकारिता की अंतर्राष्ट्रीयता में सबसे ज्यादा विश्वास हम 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वालों को ही था।.....हमारी अंतर्राष्ट्रीयता ने कभी आशा नहीं छोड़ी कि बड़ा भाई रूस हमारी क्रांति के लिये आवश्यक निर्देश और सहायता देगा। सहायता भरपूर मिली जिसके चलते गरीबों की पार्टी स्वयं गरीब नहीं रह गयी।"[25] यह सधारणतया देखा जा सकता है कि भारतीय वामपंथ के इस सोवियतवाद का परिणाम क्या रहा ? "सुविधावादियों के लिये स्वर्गभोग का एक और रास्ता खुल गया। वे लोग बेरोकटोक वहाँ जाने लगे–आराम करने के लिये, इलाज कराने के लिये, परामर्श और विचार विमर्श के लिये और अपनी किताबों पर तगड़ी रायल्टी पाने के लिये।"[26]

दुर्दैव यह है कि इस अंतर्राष्ट्रीयतावाद के बाद जो भी बची–खुची क्रांतिकारिता थी वह नेहरू के समाजवाद से निर्देशित हुयी। नेहरु की समाजवादिता किस रूप की थी यह हम

ऊपर तेलंगाना और रेलमजदूरों की हड़ताल के प्रसंग में देख चुके हैं। नेहरु के साथ अच्छाई यह थी कि वे चोले से कांग्रेसी और आत्मा से समाजवादी समझे जाते थे लेकिन वामपंथ के साथ बुराई यह हुयी कि राजनीति में नेहरु की कांग्रेसी काया ही सक्रिय रही, आत्मा नहीं। नेहरू ने समाजवाद के स्वप्न को पूरा करने के बजाय समाजवाद को ही भारत के लिये सपना बना दिया। केरल की कम्युनिस्ट सरकार को पदच्युत कर के उन्होंने एक शानदार गलत परंपरा की शुरूआत की। स्पष्ट है कि उस क्रांति का क्याप होना निश्चित था जिसकी आधी उम्मीद सोवियत रूस से और आधी समाजवादी नेहरु पर टिकी हो। जब कि आज न सोवियत रूस में समाजवादी विचार है और न ही नेहरु की कांग्रेसी सरकार सत्ता में है।

भारतीय वाम के प्रसंग में रोचक लेकिन त्रासदपूर्ण प्रसंग यह है कि उसने सदैव क्रांति को एक यूटोपिया और फैंटेसी के रूप में पेश किया। भारतीय समाज, राजनीति और संस्कृति के ठोस यथार्थ के विपरीत क्रांति को अतिवादी रूप से सारी समस्याओं का हल बताया गया। क्रांति को एक सम्मोहनकारी शक्ति के सदृश निर्मित करने की कोशिश की गई।[27] साथ ही जनता को इस धोखे पर विश्वास करने हेतु सहमत किया गया कि सारी समस्याओं का समाधान करने वाली क्रांति बस अब होने वाली है। डॉक्साहब के द्वारा नायक के माध्यम से उत्तरा के लिये दी गई धैर्य–संयम की सलाह में क्रांति के उस आशावाद के दर्शन किये जा सकते हैं जिसके होने के बाद प्रेम मिलन में कोई बाधा नहीं रह जायेगी– "अपने उस दोस्त को धैर्य–संयम की सलाह दो।.... वह दिन दूर नहीं जब नेहरु समेत साम्राज्यवाद के तमाम कांग्रेसी कुत्ते दुम दबाकर भागते नजर आयेंगे। विषमताओं की रात खत्म होगी और लाल क्षितिज पर समता का सूर्य उगेगा। उस सूर्योदय के बाद उन प्रेमियों के मिलन के मार्ग में कोई संकट नहीं रह जायेगा।"[28] द्रष्टव्य हैं कि डॉक्साहब के द्वारा क्रांति के चारों ओर किस प्रकार एक प्रभामंडल निर्मित किया गया है! चूंकि क्रांति को न होना था, वह न हुई, इसलिये मिलन भी संभव न हो सका। स्पष्टतया क्रांति के स्वप्न ने समाधान के बजाय जीवन धारा को अवरुद्ध करने का काम किया। यहाँ सबसे अधिक गौरतलब यह है कि मार्क्स ने धर्म की इसी प्रवृत्ति और संभावना को दृष्टिगत करते हुये उसे जनता हेतु अफीम कहा था– "धार्मिक असंतोष एक ही समय में वास्तविक असंतोष की अभिव्यक्ति और वास्तविक असंतोष के विरुद्ध विरोध है।..... धर्म एक शोषित प्राणी की आह है, हृदयहीन विश्व का हृदय है ठीक इसी तरह उत्साहहीन स्थिति का उत्साह है। यह लोगों के लिये अफीम है।[29] अतः स्पष्ट है कि धर्म की इस परिभाषा के मद्देनजर एक महत्वपूर्ण उपपत्ति प्राप्त की जा सकती है कि क्रांति भी अफीम है, धर्म के अनुरूप; लेकिन वाम द्वारा प्रदत्त। क्रांति की इस अफीमी व्याख्या को जे.

सियाटन फेवर और विलियम होर्ज के निम्न कथन के प्रकाश में, जिसमें मार्क्स के धर्म संबंधी मत की व्याख्या की गई है, अधिक स्पष्टता के साथ समझा जा सकता है; बशर्ते कथन में धर्म की जगह क्रांति शब्द का उपयोग किया जाय। कथन इस प्रकार है– "वह (मार्क्स) स्वीकार करता है कि धर्म 'दास ओपेम देस वोक्स' है जो मनुष्य के मस्तिष्क को समयहीन अमूर्त्तन से ढ़क लेता है और उन्हें भ्रम के साम्राज्य में ढकेल देता है। जहाँ धर्म मनुष्य को बिखरी हुयी विश्वदृष्टि देता है, जो वैश्विक अवसाद की अभिव्यक्ति और अवसाद के विरुद्ध विरोध दोनों है। किसी भी मूल्य पर धर्म मनुष्य को वास्तविक उत्तर नहीं प्रदान करता है लेकिन उसकी प्रकृति को और अधिक विखंडित कर देता है और उसके बढ़ते हुय आत्मनिर्वासन को बढ़ाता है।"[30] इति सिद्धम्, क्रांति वाम का 'धर्म' है।

लेकिन बात यहीं खत्म नहीं हो जाती है, ध्यान देने की बात यह है कि मात्र क्रांति की संकल्पना ने ही किसी धर्म या धार्मिक प्रवृत्ति का रूप नहीं धारण किया है, वरन् पूरा वामपंथ ही अपनी संरचना और स्वभाव के स्तर पर एक नये धर्म का अवतार ही साबित हो रहा है। निकोलस बेर्डयेव ने, जो कि एक धार्मिक दार्शनिक थे और रूसी साम्यवाद की आंतरिक जानकारी भी रखते थे, 1937 में ही यह सूचना दी थी कि साम्यवाद का धर्म के प्रति दृष्टिकोण अंतर्विरोधी है क्यों कि आज यह स्वयं एक धर्म बन जाना चाहता है।[31] (द ओरिजिन ऑफ रसियन कम्युनिज्म, पृ–191) डा. राधाकृष्णन ने भी साम्यवाद की इस प्रकृति की ओर उल्लेखनीय रूप से ध्यान आकृष्ट किया है– "साम्यवाद में धर्म की सभी विशेषतायें हैं, यद्यपि यह पूर्णतः धर्म निरपेक्ष और मानवतावादी है।"[32] डा. राधाकृष्णन का विवेचन निकोलस बेर्डयेव से इस संबंध में अग्रगामी है कि डा. राधाकृष्णन ने मार्क्सवाद में व्याप्त धार्मिक संरचना की पहचान करते हुये उसकी गंभीर तुलना ईसाई धर्म के साथ की है। और, इस प्रक्रिया में मार्क्सवाद के अंतर्विरोधों को भी शब्द दिया है– "साम्यवादियों का मार्क्स, ऐंगेल्स, लेनिन और स्तालिन पर विश्वास धार्मिक व्यक्तियों की धार्मिक पुस्तकों पर निर्भरता की याद दिलाता है। एक तथ्य यह है कि साम्यवाद के इतिहास में कठिनाई से ही कोई ऐसा समय है जो क्रिश्चैनिटी के इतिहास के सामांतर न हो। वर्तमान 'अश्रु' से आगे हमारे पास कब्रगाह, पवित्र पुस्तकें, सिद्धांत, उबाऊ भाष्य, भेदशास्त्र, शहीद, नास्तिक, शुद्धीकरण, संत, पापी, और स्वर्ग हैं। इसकी प्द्धति और अनुशासन एक व्यक्ति को बलपूर्वक निश्चित धार्मिक व्यवस्था की याद दिलाते हैं।"[33]

मार्क्सवादी प्रयोजनों को आज उसी पद्धति से संपन्न करने की कोशिश की जा रही है, कि गोया कोई मिशनरी संस्था हो। 'क्याप' का 'महात्मा–मार्क्स–आश्रम' मिशनरी संस्था ही है। मार्क्स के संबंध में उपन्यास में आया पहला शब्द 'मुनि–मसीहा–मार्क्स'[34] ही मार्क्सवाद के इस धार्मिक–मिशनरी चरित्र की सूचना दे देता है जहाँ मार्क्स को उसके नये मुनि–मसीहा वाले अवतारी चरित्र के साथ उकेरने की कोशिश की गई है। दूसरे शब्दों में कहें तो उस मार्क्सवाद की खबर लेने की कोशिश की गई है जो मार्क्स को हर संकट–कष्ट का निवारण–कर्त्ता मानता है। वर्तमान में, ईसा की तरह मार्क्स को एक मात्र संरक्षक सत्ता मानकर कम्युनिस्ट जनता के मानसिक धर्म परिवर्तन का कार्य मिशन की कार्य शैली में, आलोचनात्मक मस्तिष्क को नष्ट करके करते हैं न कि बौद्धिक विमर्श के श्रम के द्वारा यथार्थ की वास्तविक समझ प्रदान कर के। मार्क्सवाद को संस्कार के रूप में देने की कवायद उसकी अंतर्विरोधी धार्मिक संरचना के अंतर्गत ही है। 'क्याप' में भी नायक को मार्क्सवाद की शिक्षा संस्कार के रूप में ही प्राप्त होती है– "जैसे और बच्चों को मिथक–पुराण संस्कार पड़ते हैं वैसे मुझमें कका की कृपा से नये समाजवादी मिथक–पुराण के संस्कार पड़े।"[35] डॉक्साहब भी "मार्क्स–लेनिन–स्तालिन जैसे क्रांतिकारियों के ग्रंथ इस तरह से पढ़ते और पढ़ाते थे मानो वे ऋषि–मुनियों के ग्रंथ हों।"[36] मार्क्सवाद की संस्कारशाला के ये दो मात्र उदाहरण जो उपन्यास की काल्पनिक जिंदगी से हैं, अगर नाकाफी हों तो यथार्थ जिंदगी में भी दृष्टांत उपलब्ध हैं। 'विचार का अंनत' (डा. पुरुषोत्तम अग्रवाल) से 'यथार्थ जिंदगी से'– के बतौर– "सन सतानवे की वह शाम। 'साहित्य आकादमी' के 'लेखक से मिलिए' कार्यक्रम में जावेद अख्तर ने एक रोचक प्रसंग सुनाया। मुसलमानों में चलन है कि नवजात शिशु के कान में पिता कुरान की आयतें फूंकता है। जाँनिसार अख्तर बोले, "मैं तो कम्युनिस्ट हूँ'– कुरान नहीं, मैं तो अपने बेटे के कान में कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो फूँकूँगा।" और उन्होंने फूँका– 'दुनिया के मजदूरों एक हो।"[37]

उपर्युक्त दृष्टांत के ऊपर लेखक की लंबी टिप्पणी भी गौरतलब की जा सकती है जो मार्क्सवाद के धर्म बन जाने की चिंता से युक्त लेखक के द्वारा व्यक्त की गई है, साथ ही मार्क्सवाद की एक अन्य प्रवृत्ति की ओर भी दृष्टि गोचर कराती है कि मार्क्सवाद उससे उसके प्रति पूछे गये हर प्रश्न के प्रति क्योंकर शंकालु होता है। एक धर्म जो विवेक से अधिक आस्था पर यकीन करता हो वह अन्य सभी धर्मों के प्रति क्योंकर सद्भावनापूर्ण होगा ? श्रम के विज्ञान से अधिक संस्कार पर विश्वास करने वाला मार्क्सवाद ऐसा ही होगा– "जाहिर है कि यह प्रसंग (जावेद अख्तर वाला) एक धरातल पर बहुत सुंदर दृष्टांत है 'बिट' और 'सेंस' ऑफ

ह्यूमर का संभव है कि यह कवि की कल्पसृष्टि ही हो। लेकिन चाहे तथ्य हो चाहे गल्प–प्रसंग में ध्यान देने की बात है मार्क्सवाद को वयस्क व्यक्ति के विवेक की बजाय नवजात शिशु को दिये जाने वाला संस्कार बनाने की इच्छा। प्रसंग उस पूरी मानसिक बुनावट की सूचना देता है जिसके अंतर्गत बीसवीं सदी के श्रेष्ठ बौद्धिकों ने मार्क्सवाद को अपनाया। इस बुनावट में मार्क्सवाद ज्ञानमीमांसा का वैकल्पिक प्रस्ताव कम और प्रचलित धार्मिक आस्था का विकल्प ज्यादा था। यह संयोग नहीं कि आस्था से जिरह करने वालों के प्रति, आस्था पर आधारित सत्ता तंत्र की नीयत से बहस करने वालों के प्रति मार्क्सवादियों का रवैया भी लगभग वैसा ही शंकालु बल्कि हिकारत भरा होता है– जैसा हिंदू / मुस्लिम / ईसाई आस्था के अलमबरदारों का। वैज्ञानिक विचारधारा होने का दावा करते हुये भी संगठित मार्क्सवाद असुविधाजनक प्रश्नों और तर्क की चुनौतियों से वैसे ही कतराता रहा जैसे कि वे विचारधारायें जिन्हें मार्क्सवाद अवैज्ञानिक मानता था।"[38]

क्रांति के विचार का एक अंतर्विरोध यह भी है कि भावना के अवयव से अपना रूप ग्रहण करने वाली क्रांति को हमेशा भावना से दूर रहने को कहा गया। भावुकता को सा 'इंफेटाइल डाक्ट्रिन' की जननी कहा गया। उत्तरा की मृत्यु से भावुक हुये नायक को डॉक्साहब क्रांति करने को उत्प्रेरित करते हैं– "जिस व्यवस्था ने तुम्हारी प्रेमिका की हत्या की है उससे तुम क्रांति करके ही बदला ले सकोगे।"[39] लेकिन ये वही डॉक्साहब हैं जिन्होंने प्रेम में उत्सर्ग हेतु उत्सुक प्रेमी युगल को सदैव भावना से दूर रहने का तर्क दिया क्योंकि भावुकता से तथाकथित क्रांति नहीं होगी और प्रत्येक कष्ट का समाधान करने वाली क्रांति के नहीं होने से प्रेम का मार्ग भी स्पष्ट नहीं हो सकेगा! डाक्साहब का उद्‌बोधन है– "भावना की भावना करने से वासना पैदा होती है और वासना से अंधा हुआ व्यक्ति मंजिल की और जाते हुये सही मार्ग को देख नहीं पाता है भटक जाता है। मार खाता है इसलिये भावुकता से खुद दूर रहो, उत्तरा को भी दूर रखो। इस बात को अच्छी तरह समझो कि तुम्हारे लिये प्राथमिकता–क्रम में क्रांति पहले आती है और प्रेम बाद में।"[40] इस संदर्भ में 'क्याप' की नायिका उत्तरा का एक मात्र वक्तव्य इस क्रांति विचार के सारे दुचित्तेपन को एकचित्त करने वाला है– "भावुक लोग ही क्रांति कर सकते हैं। बहुत सोंचने समझने वाले तो बस धोखाधड़ी कर सकते हैं– अपने से और अपने क्रांतिकारी सिद्धांतों से।"[41] उपन्यास के उत्तरार्ध में नायक भी एकचित्त होता हुआ अपना रोष प्रगट करता है– "लेनिन के केश विशेषों भावुकता ही इन्फेंटों की जननी है। भावुकता नहीं होती तो खुद लेनिन नहीं पैदा होता।"[42] आगे सरलता से जोड़ा जा सकता है– कि लेनिन के नहीं होने पर महान सोवियत क्रांति की घटना भी

विश्व के सामने नहीं घटती। काश! भारत के मार्क्सवादी भी भावुक होते ! एक चित्त वाले होते!

भारतीय वाम की एक अन्य समस्या यह है कि वह सत्य के ऊपर अपनी इजारेदारी समझता है। अपने अतीत या वर्तमान के आत्ममूल्यांकन की कभी आवश्यकता नहीं समझी गई। "जैसे यह कि हमने पहले साम्राज्यवादियों की हिटलर से लड़ाई का समर्थन किया और फिर उसी का विरोध किया और फिर समर्थन किया तो तीनों ही स्थितियों में हम ही क्यों सही थे ? उधर हमारे प्रतिद्वन्द्वियों ने जब भी किसी का समर्थन किया या विरोध किया तो वे ही गलत क्यों थे ?"[43] अपने इस रूप में भारतीय वाम ने स्तालिनवाद का स्वरूप ग्रहण कर रखा है, वैज्ञानिक और मार्क्सवादी तरीके से दुनिया का विश्लेषण करने की पद्धति तो विस्मृत ही कर दी गई है। नायक का अपने कका की फोटो के समक्ष व्यक्त किया गया संताप–इसी बात का है– "असल में लेनिन कोई था ही नहीं, सभी सीधे स्तालिन बन जाना"[44] चाहते थे। असल में देश के वामपंथ ने प्रत्येक स्थिति में यह राय बनाई कि अतीत में हमने चाहे जो भी गलतियाँ की हों लेकिन वर्तमान में हम उचित कार्यक्रम के तहत राजनैतिक स्थिति को समझने की तह तक पहुंच गये हैं। अतः खुले विचार–विमर्श की कोई जरूरत नहीं है, अपितु इससे एकताबद्ध राजनीतिक कार्य करने में अवरोध ही उत्पन्न होंगे। "पहले की राजनीति जब असफल हो गई तो अक्सर उसकी निंदा की गई परंतु उसका विश्लेषण शायद ही कभी हुआ। न ही सफलताओं का अध्ययन हुआ। 1940 के दशक के उत्तरार्ध और 1950 के प्रारंभिक वर्षों के दौरान समाजवादियों की प्रगति का कोई गंभीर इतिहास नहीं लिखा गया और न ही केरल, बंगाल तथा आंध्र प्रदेश में साम्यवादी विकास का कोई अध्ययन है। इसी तरह बंगाल की वामपंथी सरकार के अनुभवों ..... का भी कोई अध्ययन नहीं हुआ है।"[45]

वामपंथ में रचनात्मक चिंतन एवं खुली बहस के दौर को समर्थन क्यों नहीं दिया गया, इसके अनेक कारण है–

1. इस बात का हमेशा प्रचार में रहना कि वर्तमान क्षण क्रांति अथवा करीब–करीब क्रांति का समय है अतः मुक्त विमर्श के लिये उपयुक्त नहीं।
2. स्तालिनवाद ने इस अर्थ में भारतीय मार्क्सवादी पार्टियों को दोतरफा क्षतिग्रस्त किया कि– प्रथम तो उसने पार्टी की विचार पद्धति को ही स्तालिनवादी बना दिया अर्थात् भारतीय वाम को परम पूर्ण दर्शन बना दिया। द्वितीय, उसने पार्टी में ऐसे स्तालिन पैदा कर दिये जो इस दर्शन या सत्य के अकेले भाष्यकार थे। इस क्रम में पार्टी के

अंदर पुरोहितवाद की प्रवृत्ति पनपी और व्यक्ति पूजा शुरू हो गयी। बुद्धिजीवी ही बतौर 'डिविएशन डिटैक्टर' यानी 'भटकन मापक' बताने लगे कि कौन पार्टी लाइन से भटक रहा है। लेनिन ने तो केवल बुद्धिजीवियों को उपयोगिता का प्रमाणपत्र दिया था यहाँ बुद्धिजीवी स्वयं प्रमाणपत्रदाता बन गये। इस प्रकार के प्रमाणपत्रों ने यह स्पष्ट कर दिया कि "नेता में आस्था और विश्वास रखने वाले ही क्रांति के सच्चे सिपाही हो सकते हैं"[46]। इस नेता पूजा ने पार्टी के अंदर ही एक 'वंचित वर्ग' या अनुयायी समूह उत्पन्न कर दिया जो पार्टी का बहुसंख्यक था। यह बहुसंख्यक समूह अपने नेतृत्व को लेकर इस स्तर तक अभिभूत था कि यह समझ बैठा कि सिद्धांतों या विचारधारा की बातों या महान राजनीतिक कार्यवाहियों के बारे में सोंचना, बहस या विमर्श करना न तो उसके वश की बात है और न ही उसका उद्देश्य होना चाहिए।

3. लेनिन ने एक अखंड क्रांतिकारी पार्टी की आवश्यकता पर बल दिया था लेकिन धीर–धीरे यह विचार स्थापित हो गया कि पार्टी विरोधी कोई भी विचार या कार्य, भले ही वह तर्कपूर्ण हो, बुनियादी तौर पर मार्क्सवाद से जुड़ा हो, मृत्यु से भी बुरा है। स्वयं पार्टी या उसकी पत्र–पत्रिकायें इस तरह की गतिविधियों को निरुत्साहित करती थीं। अतः एक व्यक्ति को सही मानने की कसौटी उसकी विचारधारा, उसकी राजनीतिक प्रतिबद्धता और उसका काम नहीं बल्कि पार्टी कार्यक्रम इत्यादि के प्रति उसकी वफादारी हो गई। पार्टी प्रतिबद्धता का स्थान पार्टी–भक्ति ने ले लिया। पार्टी का लोकतांत्रिक केंद्रवाद सामान्य सदस्यों एवं असंतुष्ट विचारों के ऊपर प्रभावी नेताओं बुद्धिजीवियों की तानाशाही में बदल गया। एक सामान्य भारतीय मार्क्सवादी कार्यकर्त्ता के केवल सूचनादाता या कुरियर के रूप में सीमित हो जाने के पीछे मूल कारण यही है।

4. चौथा, और संभवतः अंतिम महत्वपूर्ण कारण है– भारतीय वाम का 'भ्रांति सिद्धांत'।[47] चूंकि मार्क्सवादी पार्टियों का अधिकांश गरीब तथा अशिक्षित तबकों से आता है अतः भारतीय मार्क्सवादी नेतृत्व हमेशा इस बात से डरता रहा कि खुली व स्वतंत्र बहस से उपर्युक्त कार्यकर्त्ता वर्ग भ्रमित हो जोयगा। जड़बुद्धि को जड़ ही रहने देने को भ्रांति के विरूद्ध सबसे अच्छी गारंटी मान लिया गया। यहाँ नेतृत्व के सामंतवादी तथा बुर्जुआजी वर्ग– चरित्र के वैचारिक अवशेषों को भी दृष्टिगत किया जा सकता है।

इस प्रकार द्रष्टव्य है कि स्वतंत्र चिंतन एवं विमर्श–बहस के प्रवाह को रोककर भारतीय वामपंथ ने 'सर्वहारा के अधिनायक तंत्र' की स्थापना के बजाय 'सर्वहारा के नालायकतंत्र' को ही अधिक रचा है। एक भविष्य निरूपक दृष्टि के रूप में, एक आंदोलन के रूप में, मार्क्सवाद को सामने लाने के अप्रयास के रूप में इस भारतीय स्तालिनवाद ने सबसे ज्यादा मेहनत की है।

संदर्भित उपन्यास जिस 'राजनीतिक पोलेमिक्स' को प्रस्तावित करता है, अपने मुख्य प्रयास यानी भारत में कम्युनिस्ट पार्टियों की कार्य–नीतियों की समीक्षा के बावजूद, जैसा कि पहले ही संकेत किया जा चुका है वहाँ 'शताब्दी विमर्श' की संभावनायें भी मौजूद हैं। डूमों एवं तथाकथित उदार (कांग्रेसी) ब्राह्मणों के विडम्बनात्मक संबंध की कथानक में निरंतर उपस्थिति एवं उसकी परिणतियों के माध्यम से जहाँ यह शताब्दी विमर्श सवर्णों एवं अवर्णों के सनातन विमर्श का रूपाकार लेता हुआ दिखाई देता है वहीं कांग्रेस के उस संकल्प के ढोंग को भी स्पष्ट करता है जिसमें कांग्रेस ने सामाजिक बराबरी का नारा पेश किया था– ये उदार गांधीवादी ब्राह्मण मूलतः 'दो मुंहे ढ़ोंगीं' हैं और कांग्रेसी सवर्णों ने हम शूद्रों को बराबरी का दर्जा सैद्धांतिक रूप में ही दिया है व्यावहारिक रूप में नहीं। ".....हमारा आधुनिकता का स्वीकार सदा इसी आधे–अधूरे स्तर पर ही बना रहेगा और हमारे तमाम भवानीदत्तज्यू–उर्वादत्तज्यू घरे–बाहरे दो–दो अलग–अलग चेहरे इस्तेमाल करते रहेंगे।"[48] भारत के संदर्भ में कोई भी 'शताब्दी विमर्श' बिना कांग्रेस की चर्चा के एकपक्षीय होगा, कारण सहज है कि– कांग्रेस देश की सर्वप्रमुख राष्ट्रीय पार्टी रही है, स्वतंत्रता के पहले भी और बाद में भी। इसीलिये, उपन्यास में भी न केवल कांग्रेस के छद्म दलित दर्शन के दर्शन उपलब्ध हैं वरन् उससे आगे नेहरु व इंदिरा की कारगुजारियों का भी उल्लेख है (जिसका वर्णन कम्युनिस्ट पार्टियों की बात करते हुये की जा चुकी है)। यही नहीं वहाँ गांधी व गांधीवाद पर भी टिप्पणी है– "गरीब होने का नाटक कर–कर के और सादगी के गुण गा–गा कर वह हम गरीबों को सिर्फ यही सिखा रहा है कि अपने नसीब से खुश रहो, अमीरों से छीन लेने की बात कभी मन में न लाओ।"[49] ध्यान देने की बात यह है कि निश्चित रूप से यह उपन्यास की विशिष्ट संरचना ही है कि यदि एक ओर उसमें उसे दलित विमर्श के रूप में पढ़ने के सूत्र हैं तो उपनिवेशवाद–मार्क्सवाद और कांग्रेस की की गई समीक्षा के बहाने उसे एक राजनीतिक उपन्यास के रूप में भी पढ़ा जा सकता है।

उपन्यास के 'शताब्दी विमर्श' का अतिरिक्त प्रयास यह है कि आज सभी तरह की विचारधाराओं के अंत एवं किसी भी प्रयास की सदिच्छा के व्याप–समय में; उपन्यास के अंत में गांधीवाद एवं मार्क्सवाद के मेल के द्वारा अर्थात् 'महात्मा मार्क्स आश्रम' में क्रांति के वैकल्पिक–अंतिम हल को ढूंढने की काल्पनिक कोशिश उपन्यासकार के द्वारा की जाती है। लेकिन उस युग में, जहाँ मार्क्सवादी भी कांग्रेसी गांधीवादियों की तरह हुये जा रहे हैं या कांग्रेसी भी मार्क्सवादी बोहेमियनों की भांति हुये जा रहे हैं; टीशालाओं में बैठ–बैठ कर सच्चे साम्यवादी बनकर शास्त्रार्थ करते हुये क्रांति–क्रांति का खेल खेला जा रहा हो या पुनः सभ्यताओं के संघर्ष के साथ–साथ जातियों का संघर्ष और उस पर आधारित राजनीति बदस्तूर जारी हो, निश्चित रूप से गांधी और मार्क्स का 'ज्वाइंट बेंचर' भी किसी भी तरह से क्रांति के स्वप्न की सफलता हेतु अपर्याप्त ही होता है। उपन्यास का समापन एक तरह के 'फेनेटिसज्म' में होता है जहाँ सभी प्रकार के आंदोलन गैंगवार में बदल जाते हैं और नायक एक 'अनास्थावान सिनिक' के रूप में– एक 'एंटीक चीज' जिसे मार्क्सवाद के म्यूजियम में रख देना चाहिये। वास्तविकता यह है कि उपन्यास में अभिव्यक्त किसी भी प्रकार के स्वप्न एवं उसे उपलब्ध करने की किसी भी स्तर की कोशिश का सामान्य निष्कर्ष यही होता है कि– "बीसवीं सदी के तमाम क्रांतिकारी नारों और फतवों की मेरे कानों में न जाने कब से बसी हुयी अनुगूंज सहसा गायब हो गई और उसकी जगह लेने लगी कका से सुनी हुई उदास लोककथाओं की पक्षी योनि में अवतरित नायिकाओं की उदास बोलियाँ। पास के जंगल की हर चिड़िया यही बोलने लगी– के लै नि भै, के लै नि भै– कुछ भी नहीं हुआ, कुछ भी नहीं हुआ।"[50]

[1] मनोहर श्याम जोशी, 'क्याप', पृ0–45–46
[2] बिपिन चंद्र, 1997, आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, पृ0–183
[3] पूर्व, पृ0–185
[4] मनोहर श्याम जोशी, 'क्याप', पृ0–105–6
[5] अयोध्या सिंह, 2001, समाजवाद भारतीय जनता का संघर्ष, अनमिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, पृ0–225
[6] बिपिन चंद्र, आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, पृ0–190
[7] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–104
[8] पूर्व, पृ0–102
[9] अयोध्या सिंह, समाजवाद भारतीय जनता का संघर्ष, पृ0–352
[10] मनोहर श्याम जोशी क्याप, पृ0–104
[11] पूर्व, पृ0–104–105
[12] पूर्व, पृ0–105
[13] पूर्व, पृ0–111
[14] पूर्व, पृ0–111
[15] पूर्व, पृ0–108
[16] पूर्व, पृ0–66
[17] पूर्व, पृ0–72
[18] पूर्व, पृ0–109
[19] पूर्व, पृ0–106
[20] पूर्व, पृ0–101
[21] ओम् प्रकाश गाबा, 2002, राजनीतिक सिद्धांत की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, पृ0– 420–28
[22] पूर्व, पृ0–420
[23] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–103
[24] पूर्व, पृ0–102–3
[25] पूर्व, पृ0–102
[26] पूर्व, पृ0–104
[27] जर्मन कवि हेनरिख हाइने ने भी 'ल्यूटेशिया' (पृ0–12) में लिखा था कि कम्युनिज्म उनकी आत्मा पर 'सम्मोहनकारी प्रभाव' डालता है। (संदर्भ, 'कला के वैचारिक और सौंदर्यात्मक पहलू'– आब्नेर जीस, रादुगा प्रकाशन, मास्को / पी. प. हा. (प्रा.) लि., नई दिल्ली, 1985, पृ0–30)
[28] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–103
[29] कार्ल मार्क्स एंड एफ. एंगेल्स आन रिलीजन, 1955, फॉरेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को, सेकंड इम्प्रेसन, पृ0–42
[30] जे. सियाटन फेवर एंड विलियम होर्ज, सं. 1971, 'रिलीजन इन फिलॉस्फिकल एंड कल्चरल पर्सपेक्टिव', वैन नौस्टैंड रेनहोल्ड कम्पनी, (न्यूयार्क, लंदन, टोरोंटो, मेलबोर्न) / एफलिरोटेड ईस्ट प्रेस प्राइवेट लि., नई दिल्ली, पृ.–319
[31] एस. राधाकृष्णन, 1992, रिकवरी ऑफ फेथ, ओरियंट पेपरबैक्स, दिल्ली, पृ0–54–55
[32] पूर्व, पृ0–54
[33] पूर्व, पृ0–54
[34] मनोहर श्याम जोशी क्याप, पृ0–34
[35] पूर्व, पृ0–41
[36] पूर्व, पृ0–60
[37] पुरुषोत्तम अग्रवाल, 2000, विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., नई दिल्ली, पृ0–103
[38] पूर्व, पृ0–103–4
[39] मनोहर श्याम जोशी क्याप, पृ0–97
[40] पूर्व, पृ0–66
[41] पूर्व, पृ0–80
[42] पूर्व, पृ0–109
[43] पूर्व, पृ0–54
[44] पूर्व, पृ0–112
[45] बिपिन चंद्र, समकालीन भारत, पृ0–212
[46] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–42
[47] बिपिन चंद्र, आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, पृ0–201
[48] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–51
[49] पूर्व, पृ0–36
[50] पूर्व, पृ0–142

अध्याय–3

मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी ?

"कमजोरियाँ

तुम्हारी कोई नहीं थी

मेरी थी एक

मैं करता था प्यार।"[1] – बेर्टोल्ट ब्रेष्ट ('कमजोरियाँ', 1950)

प्रेम 'एडवंचरिज्म' है ? तिस पर सीधे बैकुंठवाद का मार्ग ? प्रेम में पगे हुये व्यक्ति का अपने प्रेमीजन के वास्ते किसी भी प्रकार का जोखिम खेल जाना ही, प्रेम में अनन्यता है। प्रेम में पगकर शरीर रहते हुये भी शरीर की सत्ता का एवं तद्जन्य अहं की विस्मृति के लिये; दुस्साहस चाहिये। यही प्रेम का जोखिमवाद है। इसी अनन्यता एवं जोखिम में बैकुंठ का वास है गोया– 'बर–रुए–अगर फिरदौस जमीं अस्त हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त'; प्रेम की इसी उच्चावस्था में है। प्रेम का सिद्धांत यही है। लेकिन कठिनाई यह है कि सिद्धांत के उलट प्रेम का सामाजिक व्यवहार विपरीत प्रवृत्तियों अथवा स्थितियों को सामने लाता है। प्रेम का सामाजिक यथार्थ यह है कि प्रेम एक 'सुसाइडल एक्टिविटी' है। प्रेम करना मरना है या मरने की तरह का ही कुछ– 'मेंटली रिटायर्ड' होना है। यह भी भिन्न किस्म की अनन्यता ही है, भिन्न प्रकार का जोखिमवाद– 'डेडली डुएट' जिसे सामाजिक संरचना रचती है।

जायसी ने लिखा था– 'मानुष प्रेम भएउ बैकुंठी। नाहि त काह छार एक मूठी'। तात्पर्य था कि– मनुष्य होने का सार 'मानुष प्रेम' में है, जो बैकुंठवत् है, स्वर्गिक है, अलौकिक है बाकी सब तो सारहीन है, रेत सदृश, छार की तरह निरर्थक/वायवीय। यहाँ आस्वाद या अनुभूति की अलौकिकता पर जोर था जो मनुष्य को अपने सच्चिदानंद में लोक की साधारण भाव भूमि से ऊपर उठा देती है। शरीर का निषेध यहाँ नहीं है, जीवन का अस्वीकार नहीं है; वरन उसका अतिक्रमण है। मोक्ष नहीं बल्कि 'जीवन्मुक्ति' है। अहं का विलयन है। सामाजिक व्यवहार की विडंबना यह है कि वह भिन्न रूप में 'अलौकिक' बनाती है, भिन्न रूप में 'विलयित' करती है। समाज में प्रेम की उचावस्था में सुलभ अनुभूति की अलौकिकता की प्राप्ति हेतु, अहं की सत्ता को 'लिक्विडाइज' करने के लिये किये गये–उठाये गये किसी भी प्रकार के एडवंचरिज्म के प्रयास का मतलब प्रेम कने वाले को भौतिक रूप से अनुपस्थित बनाना है। प्रेम को लेकर कोई भी अतिवाद समाजिक व्यवहार में वस्तुतः मृत्युवाद है। मृत्यु के बाद भी तो एक प्रकार से लोक से ऊपर उठ जाना होता है। सामाजिक नियमों के बरक्स प्रेम का अलौकिक भाव यही है। यहाँ शरीर के निषेध के बाद ही प्रेम का स्वीकार है, प्रेम की वैधानिकता है। क्योंकि, सामाजिक

कानून का ऐसा है कि– वह मानता है कि व्यक्तिगत प्रेमाचरण व्यभिचार की सीमा में है, अतः असंगत है। यह ईश्वर निर्मित सामाजिक गठन को नष्ट करता है अतः अपराध या पाप भी है। अतः आवश्यक है कि पहले तो प्रेम किया ही न जाये। और, यदि भूलवश कर भी लिया जाय तो सामाजिक व्यवस्था की संगति और भूल–सुधार के लिये आपको मृत्यु का स्ववरण कर लेना चाहिये अन्यथा व्यवस्था पुनः अपने को बचाने के लिये आपको पागल घोषित कर देगी। संदर्भित उपन्यास यानि कि 'क्याप' में नायिका उत्तरा भूल–सुधार के लिये प्रथम मार्ग का चयन करती है और व्यवस्था हठी नायक रमुआ के लिये दूसरे मार्ग का चुनाव। 'क्याप' की कथा में एक उपकथा प्रेम के इसी अंतर्विरोधी चरित्र की है, जहाँ प्रेम के सिद्धांत और उसके समाज में व्यवहार–परिणाम के विरोधाभास स्पष्ट होकर उभरते हैं।

'क्याप' उस सार्थक संवाद की अगली कड़ी है जिसे उपन्यास के लेखक मनोहर श्याम जोशी के द्वारा अपने दूसरे उपन्यास 'कसप' में संपन्न किया गया है– "कि क्या मानवीय प्यार और मानवीय जीवन में आधारभूत बैर है ?[2] या "क्या प्यार करने के लिये मर जाना या मार देना कुछ जरूरी सा है ?"[3] जब कि 'क्याप' का प्रश्न है कि क्या "मौन के कवच से बाहर आ चुके प्रेम की मौत टल नहीं सकती। दूसरा कोई न मारे, तो खुद ही अपने को मार लेता है वह"।[4]

मनुष्य में अंतर्वैयक्तिक (इंटरपर्सनल) अथवा द्विपक्षीय एकात्मता की प्रबल इच्छा होती है। यह उसकी आधारभूत भावना है। यह अलग बात है कि इसके कारण क्या हैं या क्या हो सकते हैं– विलगाव से मुक्ति की भावना या जैविक जरूरत या पुनः बचपन की सघन आत्मकेंद्रीयता को वापस प्राप्त करने का आग्रह। लेकिन जीवन के विकास की निरंतरता के पीछे का यह एक मौलिक तथ्य है। समस्या यह है कि क्यों कर मानव सभ्यता हमेशा से 'आतम साधन सार' इस प्रेम भावना को लौकिक और आध्यात्मिक के खाँचों में विभाजित करती आई है और पहले को 'पाप' और दूसरे को 'परमसाध्य' बखानती आई है। पहले को हमेशा बर्खास्त किया गया है और दूसरे का अतिशय महिमामंडन। लगातार यह बात भुलाई गई है कि स्त्री–पुरूष और भक्त–भगवान के प्रेम में कोई वास्तविक अंतर नहीं है बल्कि अनुभूति या मूल बात एक ही है। विसंगति यह है कि यदि स्त्री–पुरूष का यह तथाकथिकत कामज प्रेम इतना ही पापपूर्ण है तो क्यों ईश्वर को सदैव 'बालम' पुकार कर इस महान अपराध में सम्मिलित किया जाता है ? ईश्वर के प्रति प्रेम की किसी भी घटना या अभिव्यक्ति में, गौरतलब है कि प्रेमानुभूति की उच्च भावदशा एवं आकुलता की दशा में हृदय से निकले बोल सदा से ही प्रेम के

दाम्पत्य रूप में ही अपना पूर्ण निसर्ग प्राप्त करते रहे हैं। कबीर को ही लीजिये– 'हरि मोर पीव, मैं राम की बहुरिया', 'तन रति करि मैं मन रति करि हौं', 'बालम आव हमारे गेह रे/तुम बिन दुखिया देह रे', ढेरों उदाहरण मिल जायेंगे।

ध्यान देने की बात यह भी है कि वैसे तो सामाजिक रूप से अमर्यादित या 'सोशली इन करेक्ट' ठहराये जाने के भयवश वैयक्तिक प्रेम का प्रगटीकरण या वाचन न मात्र सामाजिक व्यवहार में वरन् कविता में भी करने से बचा गया और यदि किया भी गया तो परिणति त्रासदपूर्ण ही रही। प्रतिष्ठान का रूप ले चुकी सामाजिक मर्यादा व्यक्तिगत प्रेम के सार्वजनिक हो जाने के दंड को– जीवन के व्यवहार में– जैसे मेहसाना (मार्च 1991) या मुजफ्फर नगर (पिछले वर्ष) की बर्बरता में या संदर्भित उपन्यास में नायक–नायिका के अंतिम करूण हश्र में पूरा करती है। जबकि कविता में यह सजा लौकिक प्रेम में पराभौतिक (मेटाफिजिकल) तत्व खोजकर, अलौकिकीकरण के द्वारा; या रहस्यवादी चेष्टाओं की जबरन पहचान कर के संपन्न की जाती है। सच्चाई यह है कि ".....संस्कृति के जिस पल में 'प्रेम' जितना बड़ा टैबू होता है, उस पल में साधना और कविता की समांतर दुनिया में लौकिक प्रेम का अलौकिकीकरण उतना ही अधिक होता है– जिसे आचार्य लोग चट से रहस्यवाद कह उठते हैं।"[5] गौरतलब है कि 'क्याप' में भी मर्यादा के इजारेदारों द्वारा नायिका के मरणांतक प्रेम पर रहस्य का आवरण डाल दिया जाता है ताकि उत्तरा के प्रेम का सार्वजनिकीकरण भारत के एक सु–संस्कृत परिवार की (तथाकथित) गरिमा को को अमर्यादित न बना दे। लेखक भी 'ढिणमिणाण भैरव रहस्यकांड' की जटिलता में इस प्रेम के मृत्यु बन जाने के रहस्य की खबर को छुपा ले जाता है या कहें कि उसे भी जैसे डर है कि रहस्य को 'आम' करके वह भी कहीं किसी सामाजिक अमर्यादा का शिकार न हो जाय।

कोफ्त इस बात से है कि क्योंकर सामाजिक आत्म इस बात को समझने का प्रयास नहीं करता है कि लौकिक या निजी प्रेम की मर्मस्पर्शी पीड़ा और व्यंजना में ही अलौकिकता के तत्व अंतर्निहित हैं ? क्यों कर ईश्वर कृष्ण के रास–लीला प्रसंगों को, जिन्हें सामाजिक नैतिकता की कसौटी में घोर रूप से अनैतिक होना चाहिये था, प्रश्नांकित नहीं किया जाता है; मात्र इसलिये कि वे ईश्वर से जुड़ी बातें हैं ? विश्व के महान रहस्यवादी (मिस्टिक) साहित्य में अंतर्ग्रंथित रहस्य चेतना के एक प्रमुख कारण–सामाजिक दुर्दशाओं या अन्य किसी वजह से जीवन में प्रेम की अनापूर्ति और असफलता के कारण पैदा हुयी कुंठा (फ्रस्टेशॅन)– को क्योंकर नजरअंदाज कर दिया जाता है, जब कि इसी एक वजह से लिबिडो की गति व्यक्ति से घूमकर

अ–व्यक्ति या अव्यक्त की ओर हो जाती है ? क्यों कर उन प्रमाणों और दर्शनों की अवहेलना की जाती है जो इस बात की उपलब्धता हैं कि लौकिक प्रेम के माध्यम से ईश्वरीय प्रेम की दशा प्राप्त की जा सकती है? चाहे वह सूफियों का इश्क–ए–मजाजी और इश्क–ए–हकीकी का संबंध हो या फिर घनानंद जैसे रीति–मुक्त–मार्गियों का 'सुजान–प्रेम' या पुनः वैश्विक परिदृश्य में यूनानी दर्शन में अफलातून (प्लेटो) और जर्मन रोमांटिक साहित्य में होल्डरलिन की रचनायें हो; सब में साधारणतया देखा जा सकता है कि किस प्रकार सांसारिक प्रेम की शब्दावली में परमात्मा को सिद्ध किया गया है। वास्तव में प्रेम को लेकर मनुष्य के इतिहास की सभी कार्यवाहियों का सामान्य निष्कर्ष यही है; जैसा कि एरिक फ्रॉम ने अपनी पुस्तक 'आर्ट ऑफ लविंग' में लिखा है कि– "शायद ही दूसरी कोई ऐसी गतिविधि हो, दूसरा कोई ऐसा उद्यम हो, जो प्रेम की तरह बड़ी–बड़ी उम्मीदों और अपेक्षाओं से शुरू होकर इतने ज्यादा मामलों में इतनी बुरी तरह विफल होता है।"[6]

इसी क्रम में अंबर्टो ईको के उपन्यास 'नेम आफ दिरोज' में फादर अबरटिनो के माध्यम से प्रेम के प्रति संदेह और भय की उस पराकाष्ठा को भी दृष्टिगत किया जा सकता है जो प्रेम के किसी भी रूप– आध्यात्मिक को भी संदेहास्पद और भयावह बना देती है– "संसार भर में प्रेम से अधिक संदिग्ध कुछ भी नहीं। न मनुष्य न शैतान।... प्रेम आत्मा को अनंत भूल–भुलैया में ले जाता है– इसलिये जरूरी है कि आपके पास इसे काबू में रखने के अस्त्र–शस्त्र हों। ध्यान रहे कि ये बातें सिर्फ वासनापूर्ण प्रेम पर लागू नहीं होतीं। वह तो है ही शैतान की खुराफात–लेकिन कितना भी डरावना लगे– सच है यही कि स्त्री पुरूष का प्रेम यहाँ तक कि ईश्वरीय प्रेम भी उतना ही भयावह है, जितना कि पाप पूर्ण प्रेम।"[7] फादर अबरटिनो के इस कथन को लेकर एक विशेष बात यह है कि यह एक ही साथ अवसाद और खुशी दोनों के कारण सामने लाता है। अवसाद इस बात का, कि यह प्रेम को सिरे से खारिज करता है और खुश होने की बात यह हो सकती है कि प्रेम के पूर्ण नकार के संकट की इस अवस्था में, जो उपर्यक्त कथन के द्वारा पैदा की गई है; शायद प्रेम को पुनः स्थापित करने की प्रक्रिया में प्रेम को अतार्किक खाँचों में न विभाजित करके देखने की कोई शुरूआत हो सके या हो ही जाय।

प्रेम को लेकर घटित होने वाली कोई भी सामाजिक ज्यादती प्रेम के स्वरूप से सबंधित कुछ अवधारणात्मक भ्रमों पर भी आधारित है। दूसरे शब्दों में कहें– कि प्रेम से संबंधित किसी भी सामाजिक दुर्घटना के पीछे प्रेम के संदर्भ में प्रचलित, प्रचारित कुछ गलत धारणाओं की महत्वूपर्ण भूमिका रहती है। इनकी पड़ताल आवश्यक है, इसलिये भी कि प्रेम की मूल परिभाषा

को पुनर्संगठित किया जा सके; और इसलिये भी कि भूल–सुधार कर के सामाजिक स्मृति को भविष्य के लिये न्यायसंगत बनाया जा सके–

1. प्रेम को केवल एक व्यक्ति से संबंध के रूप में देखा जाता है। यह विस्मृत कर दिया जाता है कि प्रेम एक 'दृष्टिकोण' है या एक 'चारित्रिक रूझान' जो कि भिन्न प्रकार के अन्य सबंधों में भी अभिव्यक्त हो सकता है–

'इश्क दो लफ्जों का अदना सा फसाना है

सिमटे तो दिल–ए–आशिक फैले तो जमाना है।"

"....ज्यादातर लोग यही समझते हैं कि प्रेम एक लक्ष्य होता है, एक व्यक्ति न कि एक 'क्षमता' बल्कि वे तो यह समझने की भूल भी कर बैठते हैं कि अगर वे सिर्फ अपने 'प्रेमी' या 'प्रेमिका' से ही प्रेम करते हैं, तो यह उनके प्रेम की गहराई का प्रतीक है। इसका मतलब है कि वे प्रेम को एक 'गतिविधि' के रूप में, 'आत्मा की एक शक्ति' के रूप में नहीं देखते। उन्हें लगता है कि एक 'प्रेमी' या 'प्रेमिका' को पा लेने का अर्थ है 'प्रेम' को पा लेना। यह बिल्कुल वैसी बात है जैसे कोई व्यक्ति चित्रकारी करना चाहता हो, और समझे कि उसे सिर्फ एक प्रेरक विषय की जरूरत है, उसके बाद वह खुद–ब–खुद बहुत बढ़िया चित्रकारी कर लेगा। अगर मैं किसी एक व्यक्ति से सचमुच प्रेम करता हूँ, तो मैं सभी व्यक्तियों से प्रेम करता हूँ, किसी से 'आय लव यू' कहने का सच्चा अर्थ है कि मैं उसके माध्यम से पूरी दुनिया और जिंदगी से प्रेम करता हूँ।"[8] वस्तुतः जो लोग केवल एक से प्रेम का दावा करते हैं और अन्य व्यक्तियों में उनकी कोई रूचि नहीं होती– उनका प्रेम वास्तविकता में प्रेम न हो कर एक समजैविक (सिम–बायोटिक) जुड़ाव भर होता है, अहं का विस्तार भर।

2. दूसरा सर्वाधिक महत्वपूर्ण भ्रम या असंगत धारणा यह है कि प्रेम मात्र यौन संवेगों की अभिव्यक्ति है। प्रेम को काम ही मान लिया गया है। यह भ्रम नया नहीं है। मानवीय सभ्यता के विकास के आरंभिक कलात्मक रूपों में– साहित्य के क्लासकीय युग में ही; रामायण और महाभारत में प्रेम को प्रायः सीधे–सीधे वासना और तृप्ति का विषय माना गया है।[9] संस्कृत काव्य और नाटकों में यद्यपि भावात्मक प्रेम (passionate love) और कामुक प्रेम (erotic love) दोनों ही धारायें थीं; लेकिन प्रेम में प्रमुदित उपभोग की विचारधारा या दूसरी धारा ही प्रधान थी; जो समय के साथ प्रबलतर होती गई। ऐंद्रिक भोग को प्रेम मानने वाले विचार के अंतर्गत भावोन्मेष के लिये स्थान क्रमशः कम होता गया– नख–सिख, नायिका–भेद,

ऋतु–चक्र और नायिका के शरीर के स्थूल ब्यौरे ही मुख्यतः प्रेम–काव्य की अंतर्वस्तु बन गये। दरबारी संस्कृति ने स्त्री को 'वस्तु–पूजा' के स्तर तक उतार दिया और प्रेम को बिना आत्मदान, समर्पण या एकत्व की भावना के कामोत्तेजन के आनंद की वस्तु समझ लिया गया।[10] प्रारंभिक हिंदी या प्राकृत और अपभ्रंश और हिंदी के रीतिकाल की साहित्य रचनाओं में भी दरबारी संरक्षण ने अधिकांशतः प्रेम के इस रत्यात्मक रूप को प्रोत्साहित किया। लेकिन प्रेम का सार्वाधिक क्षोभपूर्ण क्षण वह है, जब प्रेम के नाम पर 'यौन' को धर्म में विशेष दर्जा देते हुये, उसे मोक्ष का साधन मान लिया गया। ए0एल0 बाशम ने इस संदर्भ में महत्वपूर्ण टिप्पणी की है कि– "मध्यकाल में इस प्रकार के प्रसंगों में वृद्धि हुई, जब देवी–देवता के संयोग द्वारा सृष्टि निर्माण को मूर्तियों के रूप में प्रदर्शित किया गया तथा मैथुन के चित्र मंदिरों की दीवारों पर अंकित किये गये। कुछ धार्मिक संप्रदायों ने सांस्कारिक संभोग को अपनी धार्मिक पूजा के अंग के रूप में प्रारंभ किया तथा इसे मुक्ति प्राप्ति का एक शक्तिशाली साधन माना। परंतु उत्तर मध्ययुगों की अतिशयोक्ति पूर्ण यौन संबंधी धार्मिकता का तात्पर्य केवल गंभीर कामुकता से था जो भारतीय सामाजिक जीवन में सदैव विद्यमान रही। यौन–क्रिया वास्तव में प्रत्यक्ष रूप से धार्मिक कर्त्तव्य था– पति को प्रत्येक मासिक धर्म की समाप्ति पर आठ दिन के अंतर्गत अपनी स्त्री के साथ अवश्य संभोग करना चाहिये।"[11] बौद्ध दर्शन जिसमें प्रेम के तथाकथित देवता काम को 'मार' (मृत्यु) कहा गया था; एक समय में उसकी भिन्न शाखाओं (वज्रयान, सहजयान) में 'पंचमकार' के रूप में मैथुन को स्थान दे दिया गया।

आधुनिक समय में दुनिया के फ्रायडीय होने के उपरांत तो इस 'भ्रम' ने सिद्धांत की ही शक्ल अख्तियार कर ली है। यौन–आवश्यकता पर अतिशय जोर के विचार के प्रचार ने न केवल प्रेम के उद्देश्य को दूषित किया है, बल्कि प्रेम की सामाजिक गर्हता के प्रति भी एक सामाजिक अपदृष्टि के निर्माण का काम किया है। फ्रॉयड प्रेम को यौन इच्छा का परिणाम मानता है। यहाँ तक कि उसके अनुसार 'बंधुवत प्रेम' के मूल में भी यौन–स्फुर्लिंग होते हैं, लेकिन इसमें यौनात्मक संवेग अन्य लक्ष्यों के आवरण में छिपे रहते हैं। जब कि सच्चाई इसके विपरीत है; यौन–इच्छा स्वयं प्रेम और एकात्मता की जरूरत की अभिव्यक्ति है। मनुष्य में विपरीत लैंगिक ध्रुव के प्रति एकात्मता की मौलिक इच्छा होती है।[12] फ्रायड की वैचारिक असंगति यहीं तक सीमित नहीं है। फ्रायड यौन संवेगों को शरीर की कुछ आंतरिक रसायनिक क्रियाओं से उत्पन्न तनाव का परिणाम मानता है। "उसके अनुसार, इस पीड़ाजनक तनाव से मुक्ति भी यौन–इच्छा का लक्ष्य होता है; और यौन–संतुष्टि (यानि कि प्रेम) का संबंध भी मुक्ति

की इसी भावना से जुड़ा है। यह विचार सिर्फ इस हद तक सही है कि यौन–इच्छा भी, भूख और प्यास की तरह, खुराक न मिलने की सूरत में ज्यादा तड़पती है। पर इस धारणा के अनुसार यौन–इच्छा एक पीड़ा है, और यौन संतुष्टि इस पीड़ा का अंत। अगर यौन की इसी धारणा के हिसाब से चला जाये, तब तो हस्त–मैथुन यौन–संतुष्टि (या प्रेम) का एक आदर्श उपाय होना चाहिये।"[13] परंतु ऐसा होता बिल्कुल नहीं है। वास्तव में, दो लोगों के बीच आकर्षण का कारण एक हद तक ही 'तनाव–मुक्ति' (यौन–तुष्टि) होता है; इसका मुख्य कारण वही नर–मादा ध्रुवीयता की परस्पर एकात्मता की प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक पुरुष और प्रत्येक स्त्री में अर्थात् दोनों ही लिंगों में; जिस प्रकार दूसरे लिंग के हार्मोन शारीरिक स्तर पर मौजूद होते हैं, उसी प्रकार मनोवैज्ञानिक स्तर पर भी वे दोनों द्विलिंगी होते हैं। कोई भी पुरुष या स्त्री अपने भीतर तभी आनंद का अनुभव करता है जब उसके भीतर के दोनों ध्रुवों के बीच एकात्मता स्थापित हो जाय। विपरीत ध्रुवों का यह आंतरिक एकीकरण ही मनुष्य की सारी सर्जनात्मक़ता के मूल में है।

फ्रायड की इस सोंच ने– कि प्रेम एक यौनात्मक घटना या वृत्ति है, आगे अपना विकास इस धारणा के रूप में किया; कि एक विफल प्रेम संबंध का मुख्य कारण एक सही यौन तारतम्य बैठा पाने में विफलता है या यौन व्यवहार की सही तकनीक के ज्ञान का अभाव है। एक असफल वैवाहिक जोड़े को भी इसी रूप में लिया गया। जब कि सच्चाई यह है कि यह धारणा उस आम भ्रम की ही तरह की है कि सही तकनीक न केवल औद्योगिक उत्पादन की सभी समस्याओं की वरन् प्रत्येक मानवीय समस्या का भी एकमात्र सही हल है। वस्तुतः प्रेम यौन–आनंद का उत्पाद कभी नहीं होता है। इस बात की सत्यता उन आंकडों पर गौर करके परखी जा सकती है, कि अधिकांश यौन–समस्याओं की जाँच से– चाहे वे स्त्रियों के ठंडेपन से जुड़ी हों या फिर पुरुषों की मनोवैज्ञानिक नपुंसकता से– यही निष्कर्ष निकलता है कि इनका संबंध तकनीकी जानकारियों के अभावों से जुड़ा न होकर परस्पर के 'भावात्मक संकोचों' से जुड़ा होता है। यहाँ, प्रसंग वश यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि जो स्त्री या पुरुष अपने जीवन को अप्रतिबंधित यौन–तृप्ति में समर्पित कर देते हैं वे भी वास्तविक खुशी हासिल नहीं कर पाते, बल्कि कई मनोग्रंथीय द्वन्द्वों या लक्षणों के रोगी ही पाये जाते हैं। सत्य यह है कि जिस दशा में प्रेम का भोग या भोग का चाव नहीं होता, वही प्रेम की जागृत अवस्था है। इश्क की भी अपनी कुछ तहजीब होती हैं, जिन्हें निभाना ही पड़ता है–

उनको रूसवा न किया खुद भी पशेमाँ न हुये

इश्क की रस्म को इस तरह निभाया हमने।

कबीर की एक कविता है जिसमें वे ज्ञान और अज्ञान तथा प्रेम व काम के द्वन्द्वात्मक संबंध को प्रकाश और अंधकार के संबंध के रूप में देखते हैं–

सूर–परकास, तहँ रैन कहँ पाइये / रैन–परकास नहिं सूर भासै,

ज्ञान–परकास अज्ञान कहँ पाइये / होय अज्ञान तहँ ज्ञान नासै।

काम बलवान तहँ प्रेम कहँ पाइये / प्रेम जहाँ होय तहँ काम नाहीं।

कहैं कबीर यह सत्त विचार है / समझ विचार कर देख माँहीं।[14]

अर्थ है– कि जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश होने से रात नहीं रहती और रात जहाँ होती है वहाँ सूर्य का प्रकाश नहीं रहता, उसी प्रकार जहाँ ज्ञान का प्रकाश होता है वहाँ अज्ञान नहीं रहता और अज्ञान जहाँ रहता है वहाँ ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार जहाँ काम बलवान है, सशक्त है वहाँ प्रेम नहीं और जहाँ प्रेम बलवान होता है वहाँ काम नहीं रहता। स्पष्टतः दर्शनीय है कि यदि प्रेम 'ज्ञान' या 'सूर्य' है तो काम 'अज्ञान' या 'रात'।

प्रेम की वृत्ति ऐसी होती है कि उसमें एक जिंदगी कुछ नहीं होती, नायक और नायिका बस 'लुका छिपी के अगले दौर तक के लिये विदा' लेते हैं। तभी तो 'असफल प्रेम के सफल चितरे' के रूप में उपन्यासकार मनोहर श्याम जोशी को प्रेम की इस वृत्ति को पकड़ने के लिये भिन्न–भिन्न उपन्यासों में अनेकानेक जिंदगियों का सृजन करना पड़ता है– 'कसप' से 'क्याप' तक। हिंदी में प्रेम–उपन्यासों की एक लंबी परंपरा है और रोमांटिकबोध को व्यक्त करने वाले बहुत से उपन्यास हैं । खासतौर पर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के आशंकाग्रस्त माहौल और अस्तित्ववादी प्रभाव के बीच और बाद में, प्रेम की विविध समस्याओं को लेकर कई उपन्यास लिखे गये– 'शेखर एक जीवनी', 'गुनाहों का देवता', 'सुनीता', 'नदी के द्वीप' इत्यादि। लेकिन जोशी जी अपने पहले के रचनाकारों से इस दृष्टि से थोड़ा अलग ठहरते हैं कि उनके यहाँ प्रेम की भावना के 'एक्स्ट्रीम' उपयोग की लालसा है; तभी तो उपन्यास–दर–उपन्यास प्रेम की नई जमीन तैयार की जाती है। प्रेम को लेकर उनके यहाँ बेचैनी भी है और हड़बड़ी भी– "मैं एक अन्य उपन्यास अधूरा छोड़कर यह प्रेम–कहानी लिखने बैठ गया।"[15] जोशी जी की प्रेम–कथाओं के संदर्भ में एक महत्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ केवल प्रेम के प्रति सामाजिक सोंच की ही

तफ्तीश नहीं है; साथ ही प्रेम की मनोवैज्ञानिक बारीकियों को भी समझने की संक्षिप्त परंतु नई कोशिश भी है।

एक प्रेम–कथा के रूप में 'क्याप' की कहानी सिर्फ इतनी ही है कि– यह एक डूम नायक और ब्राह्मण नायिका के प्रेम की दुखांत कहानी है, जो सामाजिक 'विरूद्धों के असामंजस्य' के बीच क्याप हो जाती है। बुकमार्को–बुकमार्को से शुरू हुई प्रेम–कहानी 'समय साम्यवादी' में एक प्रतिबद्ध पार्टी कार्यकर्त्ता के, जो दुर्योग से प्रेम कहानी का डरपोक हीरो भी है; पार्टी के प्रति निभाये जाने वाले कर्त्तव्य की भेंट चढ़ जाती है। कथा–नायिका उत्तरा आत्महत्या को विवश और सफल होती है और नायक रमुआ अपनी प्रेमिका की आखिरी निशानी 'सोहन हलवे' को डिब्बी में बंद कर के जीवन पर्यंत अपने पास रखता है।

'क्याप' कई स्तर पर जोशी जी के पिछले प्रेम–उपन्यास 'कसप' की 'मारगांठ' का ही विस्तार मालूम होता है। एक तो भदेस के अर्थ में– 'कसप' में नायक–नायिका का 'टट्टी में प्रथम मिलन' था तो 'क्याप' में गाय के पेशाब यानि 'गौंतेन' की गंध है। दूसरे, उत्तरा भी कसप की नायिका बेबी की भांति प्रगल्भा नायिका है, जब कि रमुआ पगलैट मथुरिया के बेटे डी.डी. की तरह 'लाटा' या असंस्कृत। 'प्रगल्भ' और 'असंस्कृत' का द्वैत ही प्रत्येक जगह प्रेम की मजबूरी है। 'क्याप' इस दृष्टि से 'कसप' के कथाकार की प्रौढ़ावस्था है कि 'कसप' में जहाँ दोहरे वर्ग–भेद–सबंधों के बीच प्रेम का तनाव व्यंजित हुआ है वहीं 'क्याप' में यह अधिक जटिल होकर तिहरे वर्ग–भेद–संबंध में गहराता है। 'कसप' की प्रेम–कथा समृद्ध शास्त्री परिवार की कन्या और निम्न मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षी युवक की है। स्पष्ट है कि एक वर्ग–भेद कन्या और युवक का अर्थात् स्त्री–पुरुष के मध्य का है; जब कि दूसरा समृद्ध एवं निम्नमध्यवर्ग के बीच का है या सामाजिक हैसियत का है। बेबी स्त्रीवश डी.डी. पर अधिकारवादी ईर्ष्या रखती है। गुलनार और अमरीका से तो जैसे उसकी ईर्ष्या सौत की ही है– "तूने क्या समझ रखा है जब तू इतना चढ़ गया तब गुलनारों के देस में जाकर तो तेरा मिजाज ओ बाबा– आसमान पर ही होगा।"[16] ऐसा नहीं है कि यह अधिकारवादी ईर्ष्या पुरुष नहीं रख सकता, लेकिन बेबी की ईर्ष्या में स्त्री का वह हीनता बोध और असुरक्षा बोध भी शामिल है जो बेबी को केवल अपनी शर्त पर प्रेम करने का हठी बना देता है। डी.डी. का पौरुष प्रेम के इस अधिकारवाद को, वो भी एक उच्च कुल–वर्ग की ऐसी चेष्टा को बेबी के अभिजात्य–अहं के रूप में ग्रहण करता है। वह बेबी से स्पष्ट शब्दों में कहता है– "तू यह क्यों नहीं कहती साफ–साफ कि हम शास्त्री लोग इतने चढ़े हुये हैं सदा के कि हमें एक गरीब लड़के का स्वाभिमानी होना पसंद नहीं।"[17]

'क्याप' में यह वर्ग–भेद तिहरे स्तर की जटिल संरचना में है, इसीलिये प्रेम में सफलता वहाँ 'कसप' से भी अधिक दूरी पर है। आजादी के प्रारंभिक वर्षों में, क्या आज भी एक गरीब डूम नौजवान का पारंपरिक उच्चवर्गीय पहाड़ी ब्राह्मण लड़की से प्रेम–विवाह असंभव प्राय है। जहाँ सामाजिक स्तर पर ऐसे 'घोर' अंतर्जातीय घरेलू संबंध असंभव सी चीज हैं; वहीं ऐसे प्रेमसंबंध मानसिक स्तर पर ही, भले ही अवचेतन के स्तर पर ही, कभी भी जातिगत बोध एवं उसकी प्रतिक्रियाओं से उबर नहीं पाते हैं। प्रेम दुरूह होता जाता है। जैसे कि 'क्याप' के दलित प्रेमी की "विडंबना यह है कि– मर्द होते हुये भी मैंने सीमा का अतिक्रमण करने की दिशा में अपनी ओर से कोई पहल नहीं की। शायद इसलिये कि मेरी क्रांतिकारिता मेरे मन में बहुत गहरे पड़े ब्राह्मणों के आतंक के सामने नगण्य ठहर रही थी। मैं किसी ब्राह्मण कन्या को बिगाड़ने की दिशा में पहल करने का दुस्साहस स्वप्न में भी नहीं कर सकता था।"[18] दलित नायक अपनी ब्राह्मण नायिका को भले ही बिगाड़ने का 'दुस्साहस' नहीं जुटा सका; लेकिन अन्य रूपों में वह इस 'ब्राह्मणवादी आतंक' के विरुद्ध अपनी कुंठा या प्रतिशोध को जाहिर करने और उससे मुक्त होने की कोशिश अवश्य करता है। जिसकी भुक्तभोगिनी जाहिरा तौर पर निर्दोष नायिका होती है और इस रूप में प्रेम भी– "जवाब में मैं लम्बे–लम्बे पत्र भेजने लगा, जिसमें अंतरंगता से अधिक बौद्धिकता का प्रदर्शन हुआ करता था। मानो मैं उसकी ब्राह्मण होने की सामाजिक श्रेष्ठता को अपनी बौद्धिक श्रेष्ठता से ध्वस्त कर देना चाहता होऊँ। मैं व्यक्तिगत मुद्दे उठाता भी था तो महज इसलिये कि यह सुनने का सुख पा सकूं कि उसे मुझमें कितनी सारी चीजें अच्छी लगती हैं। लुत्फ यह है कि उसके मुँह से अपनी और–और प्रशंसा सुनने के लिये मैं झूठी विनम्रता का प्रदर्शन करने–दिखाने का अचूक नुस्खा आजमा रहा था। कुछ इस शैली में कि मुझ गरीब डूम में ऐसा क्या है कि तुम जैसी सर्वगुणसंपन्न बामण कन्या को पसंद आ सकता है....?"[19]

यहाँ गरीब दलित नायक के द्वारा प्रेम–व्यापार में केवल 'दलित' होने का ही 'प्रायश्चित' नहीं किया जा रहा है, अपितु नायक के द्वारा निरीह लेकिन प्रेमाकुल नायिका के समक्ष पेश की जा रही झूठी–बनावटी बौद्धिकता में यह भाव भी है कि अपने आपको प्रेमिका के समक्ष अधिकाधिक योग्य बनाकर प्रस्तुत करना है, ताकि योग्यता के आतंक के सहारे ही क्यों न सही; प्रेम से किसी भी प्रकार से वंचित न होना पड़े। जब कि प्रेम बिलाशर्त होता है। शर्तों का प्रेम हमेशा संदेहवादी होता है। योग्यता के आधार पर विकसित हुआ प्रेम कृत्रिम होता है। वहाँ हमेशा एक आशंका होती है कि– शायद मैं उस व्यक्ति को प्रसन्न नहीं कर पा रहा हूँ, कि कुछ ऐसा है कि वैसा है; एक डर हमेशा इस बात का होता है कि शर्तों की बिला पर विकासशील

मेरा प्रेम कहीं ओझल न हो जाय। साथ ही यह कटुबोध भी जुड़ा होता है कि– 'यह प्रेम स्वयं मेरे लिये नहीं बल्कि मेरी योग्यता के लिये' है। स्पष्ट है कि प्रेम का यह रूप कम से कम प्रेम तो नहीं है, भले ही अन्य कुछ और जरूर हो जाय– कुंठा, बेचैनी, या प्रतिशोध; कुछ भी।

'क्याप' के नायक की प्रेम में विफलता के दो मुख्य कारण हैं– पहला, अपनी आत्ममुग्धता से उबरने में असफलता और दूसरा, जोखिम उठाने की अक्षमता। आत्ममुग्धता की स्थिति वह होती है जिसमें व्यक्ति के लिये उसके अपने अंदर का संसार ही सब कुछ होता है, एक मात्र सच; बाहर की दुनिया उसके लिये कोई महत्व नहीं रखती। वह सिर्फ उपयोग अथवा खतरे की वस्तु होती है। आत्ममुग्धता की स्थिति एक पागलपन की स्थिति है। एक पागल व्यक्ति में निरपेक्ष दृष्टिकोण का अभाव होता है। उसकी सच्चाई की सीमा सिर्फ वह होती है जिसका अस्तित्व उसके भीतर होता है– अर्थात् उसका भय और उसकी इच्छायें। यह वह विवेकहीन अवस्था है जहाँ बाहर की घटनाओं को अपने ही प्रतिबिंब के रूप में देखा जाता है, अपने ही एक निर्माण के रूप में। प्रेमी कम पार्टी के प्रतिबद्ध क्रांतिकारी रमुआ की समस्या यही है कि कभी न हो सकने वाली क्रांति के प्रति अपनी आशा को लेकर वह इस कदर आत्ममुग्ध है, कि क्रांति के होने में ही वह सभी प्रकार की सामाजिक–व्यक्तिगत–राजनीतिक समस्याओं का हल ढूंढने लगता है। क्रांति को लकर वह अति आशावान है– "सभी समस्याओं का समाधान करने वाली क्रांति बस अब होने ही वाली है इसमें संदेह नहीं.....।"[20] आत्ममुग्धता की इस स्थिति में, जो 'आलोचनात्मक मस्तिष्क' की मृत्यु के साथ पैदा होती है, नायक कभी भी मुक्त नहीं हो पाता है, नायिका की खुदकुशी के उपरांत भी नहीं। जब कि क्रांति तो होने से ठहरी बल, सो प्रेम का विफल होना भी तयशुदा है।

प्रेम आस्था है। साहस या जोखिम लेने की क्षमता का होना, आस्था के लिये एक महत्वपूर्ण घटक है। कम से कम, उस विपरीत जमाने में जहाँ प्रेम जैसे जोखिमवाद ही हो चुका है, प्रेम की आस्था के 'मेंटीनेंश' के लिये तो साहस और भी महत्वपूर्ण हो जाता है–

"ये इश्क नहीं आसां बस इतना समझ लीजै

इक आग का दरिया है, डूब के जाना है"

अतः "जो व्यक्ति भी अपनी सलामती और सुरक्षा को जीवन की सबसे जरूरी शर्तें मानता है, आस्था का अधिकारी नहीं हो सकता। जो व्यक्ति भी अपने–आपको सुरक्षा की एक प्रणाली में 'सुरक्षित रखने' की कोशिश करता है– जहाँ दूरी और संपत्तियाँ उसकी इस सुरक्षा के साधन होते हैं– वह अपने–आपको मात्र 'एक कैदी' बनाने में ही सफल हो पाता है। प्रेम पाने के लिये

और प्रेम करने के लिये साहस की जरूरत है– अंतिम सरोकार के कुछ मूल्यों को चुनने और पहचानने का साहस– और उन मूल्यों की खातिर सब कुछ दाँव पर लगा देने का साहस।"[21] रमुआ इसीलिये असफल है क्योंकि वह साहसहीन है, आतंकित है। गौरतलब है कि नायक के बरक्स उपन्यास की नायिका यानि उत्तरा अधिकाधिक रूप से साहसयुक्त है, इसीलिये नायक की तुलना में उसके यहाँ 'प्रेम को जीना' अधिक संभव हुआ है। चाहे वह परस्पर प्रणय निवेदन के लिये असंभव किस्म के एकांत–क्षण को खोज निकालना हो अथवा, चाहे दुनिया क्या 'बाबू' से भी अपने प्रेम को कह सकने का जोश हो या पुनः बुकमार्क से लेकर रमुआ के अंतिम पत्र को संभाल कर रखने का जोखिम हो या फिर नायक से यह कह देना कि– यदि पुलिस उसे लवर की हैसियत से पकड़ेगी तो वह यह बयान दे देगी कि वह बालिग है और अपनी मर्जी से उसके साथ आयी है; यही नहीं यह भी कह देगी कि नायक उसे भगाकर नहीं लाया है बल्कि वह खुद उसे भगाकर लायी है; प्रत्येक जगह नायिका की अप्रतिम दुस्साहस की भावना दर्शनीय है। वह तो प्रेम में बदनाम होने से भी नहीं डरती है बल्कि चाहती है कि बदनाम ही हो जाय, क्योंकि– "बदनाम हो जाऊँगी तो तुम्हें छोड़ और किसी के लायक रह ही नहीं जाऊंगी मैं, नहीं हुआ?"[22] प्रेम संकल्प है। संकल्प की अड़िगता अभय को जन्म देती है, और अभय प्रेम के पैदा होने की प्राथमिक शर्त भले ही न हो लेकिन प्रेम के स्थायित्व या उसके बने रहने की जरूरी शर्त अवश्य है। उत्तरा 'प्रेम के परिणाम' में चाहे न ही सही लेकिन सिद्धांत में क्यों ज्यादा सफल है और नायक क्यों अधिक विफल है; इसका प्रमाण जैसे स्वयं नायक का यह कथन है– "प्रेम के संदर्भ में उसके संकल्प के आगे मेरा संकल्प पानी भरने लगा। मेरा यह मानना है कि प्रेम और बलिदान– जैसी श्रेष्ठ मानवीय प्रवृत्तियों के मामले में स्त्रियाँ पुरुषों से कहीं अधिक साहसी होती हैं। मैं क्रांतिकारी डरने लगा मगर वह प्रेम दीवानी निडर होती चली गयी।"[23]

प्रसंगवश, हम एक परिपक्व प्रेम की कुछ आधारभूत विशेषताओं की चर्चा कर सकते हैं– देखभाल, दायित्व, ज्ञान और सम्मान।[24] (जोशी जी को अपने सुधी पाठकों के लिये आगे पुनः फिर किसी कसप–क्याप–कथा को लिखने की मजबूरी न आन पड़े, इसलिये भी ऐसी चर्चा जरूरी हो जाती है।) प्रेम के किसी भी रूप में 'देखभाल' की प्रवृत्ति का होना कितना आवश्यक है यह किसी भी व्यक्ति के जीवन में उपस्थित होने वाले सबसे प्रारंभिक प्रेम–संबंध– माँ और बच्चे के संबंध में देखा जा सकता है। एक माँ जो अपने बच्चे की देखभाल के प्रति लापरवाह

प्रकृति के साथ भी प्रेम की कसौटी यही 'हितचिंता' है। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि वह अपने कुत्ते से बहुत प्यार करता है लेकिन वह उसे समय पर खाना न दे, तो उसका प्यार झूठा ही है। इस प्रकार जिस प्रेम–संबंध में देखभाल की भावना या हितचिंता नहीं है वह संबंध और कुछ भी हो सकता है, प्रेम तो होने से रहा। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि किसी भी प्रेम संबंध में 'देखभाल' के तत्व की कमी प्रेमपात्र में 'आत्मपीड़न' के भाव को भी जगा सकती है।

'दायित्व' किसी भी प्रेम के रिश्ते का दूसरा महत्वपूर्ण तत्व है लेकिन यह कर्त्तव्य की भावना से भिन्न है। कर्त्तव्य में जहाँ बाहरी दबाव भी काम करते हैं वहीं 'दायित्व' पूरी तरह से 'आत्म इच्छित कृत्य' है। यहाँ अपने प्रेमी की जरूरतों के प्रति स्वतः जिम्मेदारी महसूस करने का भाव है। 'क्याप' के नायक में अपनी प्रेमिका के प्रति इस दायित्व–बोध की खासी कमी है। उत्तरा के प्रति दायित्वपूर्ण होने से पहले वह अपनी पार्टी, डॉक्साहब के लिये जिम्मेदार है। दायित्व को लेकर उसके यहाँ एक संतुलन का अभाव है और यही उसकी क्याप जीवन–कथा का मौलिक कारण भी है।

अपने प्रेमपात्र को उसके अस्तित्व की जड़ों तक प्रेम करने के लिये आवश्यक है कि– उसके चरित्र और उसके सोंचने, समझने, काम करने या जीने के ढंग एवं व्यवहार से जुड़ी बातों का 'ज्ञान' होना। कोई व्यक्ति किसी समय में जरूरी नहीं है कि वही कर रहा होता है जो वह करना चाहता है अथवा जो वह करना चाहता है वह प्रदर्शित नहीं हो पाता है या वह प्रदर्शित नहीं करना चाहता है। जैसे– कोई व्यक्ति गुस्से में होकर भी गुस्से का प्रदर्शन नहीं कर सकता है या फिर एक चिंतित और परेशान व्यक्ति गुस्सैल नहीं भी होकर छोटी–छोटी बातों पर बिगड़ सकता है। इस प्रकार की परिस्थितियों में सामने वाले व्यक्ति के बारे में गहरा ज्ञान ही व्यक्ति के बारे में सही समझ को विकसित कर सकता है और इसी क्रम में प्रेम को भी।

'दायित्व' और 'ज्ञान' के होने के बाद भी एक समस्या इस बात की है कि ये दोनों ही तत्व बड़ी सरलता से थोड़ी सी ही गैर जिम्मेदारी में अपने मार्ग से भयानक रूप से विचलित हो सकते हैं। प्रेम 'दबाने की भावना' और 'अतिरिक्त अधिकार–बोध' यानि 'सोडिज्म' या 'परपीड़न' में परिणित हो सकता है। एक व्यक्ति जो एक सीमा से अधिक दायित्वपूर्ण है; उस व्यक्ति के लिये जिसके प्रति वह ऐसा है, व्यक्तित्व के स्वतंत्र विकास में एक 'बैरियर' की तरह है। एक माँ जो अपने बच्चे की अत्यधिक हितचिंता के कारण उसकी प्रत्येक गतिविधि को नियंत्रित करती है, और यह तय करने की कोशिश करती है कि उसका बच्चा बिगड़े नहीं; वास्तव में बच्चे के

स्वतंत्र विकास और आत्मनिर्भर बनने की दिशा को बाधित कर रही होती है। इसी प्रकार, दूसरे व्यक्ति से एकात्मता स्थापित करने की इच्छा अर्थात् प्रेम पाने की इच्छा जहाँ व्यक्ति (जिसका प्रेम पाने की इच्छा होती है) के चरित्र की गहराइयों के 'ज्ञान' के साथ जुड़कर परिपक्व होकर पूर्ण होती है; वहीं 'आंतरिक रहस्यों' को और अधिक जानने की इच्छा एक अनाधिकारिक अधिकारवाद या हस्तक्षेप को पैदा कर सकती है। इस अतिरिक्त अधिकारवाद में दूसरे व्यक्ति पर संपूर्ण अधिकार की भावना होती है– इतना अधिकार कि वह वही करे जो हम चाहते हैं, यहाँ तक कि वह वही सोंचे या महसूस करे जैसा हम सोंचते और महसूस करते हैं। इस प्रकार व्यक्ति को वस्तु या जायदाद मान लिया जाता है। अपनी अतिवादी सीमा में यह अधिकारवाद 'परपीड़न' का रूप ले लेता है जहाँ सामने वाले व्यक्ति के रहस्य की परतों को उधेड़ने के लिये कोई व्यक्ति किसी भी स्तर के व्यवहार की ओर मुड़ सकता है– यातना और पीड़ा देने के व्यवहार की ओर भी। लेकिन सत्य यह है कि दूसरे व्यक्ति को इस प्रकार उघाड़कर भी भी एक 'सेडिस्ट' व्यक्ति पहले के समान अज्ञानी ही बना रहता है; हालाँकि वह दूसरे व्यक्ति को नष्ट जरूर कर देता है।[25]

'दायित्व' और 'ज्ञान' के किसी भी प्रकार के अतिवादी और विध्वंसक व्यवहार से बचने के लिये किसी भी प्रेम संबंध में सर्वाधिक आवश्यक अंतर्वस्तु है– परस्पर 'सम्मान' की भावना। यह प्रेम की सबसे मौलिक और अनिवार्य शर्त है। 'सम्मान' का अर्थ भय, संकोच या दूरी बनाये रखना नहीं है बल्कि दूसरे की 'वैयक्तिकता' की विशिष्टता का बोध' है। यह दूसरे व्यक्ति के व्यक्तित्व के 'सहज और स्वाभाविक विकास की हितचिंता' है। प्रेम जहाँ स्वयं के अहं की अस्वीकृति है वहीं दूसरे के अस्तित्व की स्वीकृति। प्रेम अगर ईश्वर है, तो कबीर की यह कविता जो 'हरि' और भक्त के संदर्भ में कही गई है, प्रेम के संबंध में भी उतनी ही लागू होती है– 'जब हरि थे तब मैं नहिं, अब हरि हैं मैं नाहिं'। लेकिन यहाँ यह भी कथनीय है कि प्रेम के समीकरण में 'सम्मान' तभी फलित होता है जब प्रेम करने वाले आत्मनिर्भर होते हैं और इस रूप में दबाव रहित भी। क्योंकि प्रेम सदैव स्वतंत्रता से उत्पन्न होता है किसी किस्म के दबाव से नहीं। "परिवार के संबंधों और सामाजिक अस्मिता की परिभाषाओं से बंधा व्यक्तित्व अपने होने का– अपने निजी व्यक्ति भाव का–पहला बोध शायद पहले प्रेम में– किशोरावस्था के प्रेम में ही पाता है। इसीलिये पहला प्यार भुलाये नहीं भूलता। लाख जतन कर लें लेकिन 'लरिकाई को प्रेम' चित्त से दूर नहीं होता। अपने व्यक्तित्व का मोल पहचनवा देने वाला प्रेम किसी भी स्त्री या पुरुष के लिये स्वर्ण पात्र से ढंके सत्य के अनावृत्त साक्षात्कार का सा अनुभव है। ऐसा अनमोल अनुभव जिसका मोल प्रेमीजन शब्दशः अपने प्राणों से चुकाते आये हैं। मीराँबाई के

राजस्थान में भी और सन् दो हजार के जिला मुजफ्फरपुर नगर के गाँव राजपुर खुर्द में भी''[26] साथ ही उपन्यासकार जोशी जी के उपन्यास 'क्याप' में भी। प्रेम में व्यक्तित्व के सम्मान और स्वतंत्रता के विचार को कवि शमशेर ने सक्षम शब्दों में बखूबी अभिव्यक्त किया है–

हाँ, तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मछलियाँ लहरों से करती हैं

....जिनमें वह फंसने नही आतीं

जैसे हवायें मेरे सीने से करती हैं

जिसको वह गहराई तक दबा नहीं पातीं

तुम मुझसे प्रेम करो जैसे मैं तुमसे प्रेम करता हूँ''[27] (टूटी हुई बिखरी हुई)

परिपक्व प्रेम का सिद्धांत होता है– 'मुझे तुम्हारी जरूरत है क्यों कि मैं तुमसे प्रेम करता हूँ, जब कि अपरिपक्व प्रेम का– 'मैं तुमसे प्रेम करता हूँ क्यों कि मुझे तुम्हारी जरूरत है'। एक परिपक्व व्यक्ति जिसमें देखभाल, दायित्व, ज्ञान और सम्मान की भरपूर लेकिन संयमित मात्रा होती है, अपनी शक्तियों को उत्पादक ढंग से विकसित करता है। वह उसी को पाने की मंशा करता है जिसके लिये वह श्रम करता है या उसने श्रम किया होता है। वह आत्ममुग्धता और आत्मकेंद्रीयता के जालों और भटकावों से भी ऊपर उठ चुका होता है।[28] और, इस क्रम में, वह एक स्थायित्व की ओर अग्रसर होता है। लेकिन एक अपरिपक्व प्रेम की स्थिति में जहाँ क्षमताओं का गैर उत्पादक दृष्टिकोण से विकास होता है; जरूरतों के पूरे होने के साथ ही प्रेम भी चुक जाता है, साथ ही– क्यों कि वहाँ प्रेम में गर्भस्थ शिशु की आत्मकेंद्रीयता को पुनः प्राप्त करने की तीव्र इच्छा काम कर रही होती है; प्रेम की परिणति एक घोर निराशाजनक अस्थायित्व में होती है। गौरतलब है कि उस प्रेम का परिणाम– जो केवल एक दूसरे की आवश्यकताओं की पूर्तिकरण पर आधारित है, अगर चरम निराशा और 'एलियनेशन' की दुर्घटना में संपन्न हो तो यह आश्चर्य की घटना नहीं हो सकती। लेकिन वह प्रेमव्यापार जो केवल आत्मकेंद्रीयता की स्थिति की पुनः प्राप्ति की अयथार्थवादी इच्छा और कल्पना पर आधृत होता है, एक समय में अपरिपक्व प्रेम के उन दमनकारी रुपों और अवस्थाओं में तब्दील हो जाता है जिसे मनोविज्ञान की भाषा में 'आत्मपीडन' और 'परपीड़न' कहा जाता है।

एक अपरिपक्व प्रेम मूलतः उस आदिम आत्मरति को पुनः प्राप्त करने की चरम आकांक्षा से संचालित होता है; जिसे उसने अपनी भ्रूणावस्था में, अपनी शैशवावस्था में चखा होता है। पशुजगत में बचपन बहुत छोटा होता है। एक पशु के जन्मने और माँ से अलग होने में बहुत

कम अंतराल होता है। एक पशु बहुत शीघ्र अपने स्व–अस्तित्व के बोध के साथ ही जल्दी ही स्वाश्रित भी हो जाता है– जीवन की सहजक् वृत्तियों– भूख, प्यास, काम आदि की पूर्ति में स्वयं सक्षम। लेकिन मनुष्य अपने अपेक्षाकृत बड़े बचपन में अपनी सहज मांगों के लिये माँ पर आश्रित होता है। माँ ही उसकी रत्याकांक्षा और आत्मरक्षक वृत्ति को पूरा करने का सर्वोत्तम एकमात्र साधन होती है। वह सिर्फ गर्माहट और भोजन के सकारात्मक संवेगों को महसूस कर सकता है, जिसका एकमात्र स्रोत माँ होती है। अतः माँ ही उसके लिये गर्माहट, भोजन, संतुष्टि, सुरक्षा सभी की आनंदमय स्थिति का नाम होता है। बाहर की वस्तुयें उसके लिये केवल शरीर के आराम या बेआरामी के सापेक्ष होती हैं। उसके लिये सत्य वही होता है जिसकी अनुभूति उसके शरीर के अंदर होती है। बाहर की वस्तुओं की सत्यता इन अनुभूतियों की जरूरतों तक ही सीमित होती है– वे कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखतीं। यह वह विशिष्ट मानवीय स्थिति है जिसमें, फ्रायड़ के अनुसार–शिशु 'सम्राट' होता है। उसका विश्व वह स्वयं होता है। पशु–बचपन से भिन्न मानव–बचपन की यह विशिष्ट परिस्थिति की आत्मकेंद्रीयता, एक अपरिपक्व व्यक्ति को ता–जिंदगी लुभाती रहती है; जबकि परिपक्व व्यक्ति एक संतुलन स्थापित कर लेता है। वह (अपरिपक्व प्रेमी) इसी आदिम विराट एकत्व के प्रेम भरे संसार में पुनः विचरना चाहता है, जिसका मालिक केवल वही हो। इसी खास प्रवृत्ति को दृष्टिगत करते हुये ही नार्मन ओ'ब्राउन फ्रायड़ के आत्मरति और विषयोन्मुख रति के द्वैत का प्रत्याख्यान करते हैं; क्योंकि उपर्युक्त स्थिति में तो प्रेम की सत्ता प्रेमास्पद (love object) से पहले ठहरती है।[29]

एक अपरिपक्व प्रेमी आदिम एक्य और अमरत्व के उपर्युक्त स्वप्न को हर दशा में पाना चाहता है जिसके लिये वह 'वयस्क रति कर्म' के द्वारा प्रवृत्त भी होता है। लेकिन यथार्थ यह है कि मनुष्य के 'शक्तिशाली जननांग' भी उसकी इस महान इच्छा को पूर्ण करने में अक्षम होते हैं। पररति केवल आदिम आत्मरति को क्षणिक एकत्व की अनुभूति में ही अभिपुष्ट (Affirmation) कर सकती है। परंतु यथार्थ की अवहेलना कर के वह बारम्बार इस क्षणिक एकत्व को संपूर्ण बनाने हेतु प्रयत्नशील रहता है; और इसी क्रम में नये यौन संबंध भी बनाता है। जीवन के कटु यथार्थ के बीच, बचपन की आत्मकेंद्रीयता से किसी भी प्रकार का अलगाव उसे मृत्यु की तरह लगता है। संपूर्ण एकत्व में अमरत्व का आनंद था, लेकिन जब अलग हुये तो मृत्यु निश्चित है। एक अयथार्थवादी व्यक्ति इस मृत्यु को झुठलाता है, उसका दमन करता है, क्योंकि वह पुनः 'मातृरति' की पुनर्प्राप्ति की इच्छा को छोड़ नहीं पाता है। इस रूप में वह जीने की इच्छा अर्थात् जीवनेच्छा प्रकट करता है जो कि मृत्यु के दमन की इच्छा या मृत्यु को

पराजित कने की इच्छा पर आधारित होती है; लेकिन मृत्यु तो जीवन का अंतिम और परम यथार्थ है, व्यक्ति के जीव विज्ञान में निहित है। ये विरोधाभास अर्थात् दमित मरणेच्छा और दमित जीवनेच्छा का निरंतर द्वन्द्व ही उसमें 'चिंता' (anxiety) पैदा करता है।[30] और, सच्चाई के बलाघात से पैदा हुयी यह चिंता उसके जीवन में प्रायः परपीड़न और आत्मपीड़न के रूप में प्रकट होती है। परपीड़न उस आक्रमकता का परिणाम होता है जो इस 'चिंता' को बाहर की ओर मोड़ देने से पैदा होती है। आत्मपीड़न में 'चिंता' की दिशा अंदर की ओर होती है। मनोविश्लेषण प्रेम की इन पीड़ाकारी परिणतियों का समाधान अहं के उदात्तीकरण में देता है लेकिन एक अपरिपक्व प्रेमी के लिये ऐसा करना संभव नहीं होता।

अपरिपक्व प्रेम के सभी रूप (सोडिज्म या मेजोकिज्म) वस्तुतः मनुष्य की स्वतंत्रता के हनन के रूप हैं, और जब कि स्वतंत्रता प्रेम का अनिवार्य कारण है; प्रेम के ये रूप इस तरह से भी वास्तविक प्रेम के नहीं आभासी प्रेम के ही रूप साबित होते है। एक मात्र यौन संबंध जो आत्मकेंद्रीयतता की स्थिति को क्षणिक एकत्व के बहाने प्राप्त करने की झूठी कोशिश है, इसीलिये आभासी प्रेम की ही गतिविधि सिद्ध होता है; कि एक सीमा के बाद वहाँ व्यक्ति की स्वतंत्रता का क्षरण हो जाता है। एक यौन–घटना साधारणतया दो विपरीत लौंगिक व्यक्तियों में उस आकर्षण का फलागम होती है जो वे एक दूसरे के स्वतंत्र व्यक्तियों या स्वायत्त इकाइयों को देखकर महसूस करते हैं। सहज है कि सामने वाले की स्वतंत्रता पर अधिकार कर लेने और उसको अधीन कर लेने या करा देने के बाद पारस्परिक आकर्षण समाप्त हो जायेगा और इसी तारतम्य में उसी व्यक्ति से पुनः यौन संबंध स्थापित करने की मनोवृत्ति भी नहीं रह जायेगी। एक ही जीवन में अनेक यौन संबंध होने के मूल में यही कारण है। सार्त्र जैसे अस्तित्ववादी स्वतंत्रता और यौन वृत्ति (जिसे वे अतार्किक रूप से प्रेम भी कहते हैं) के इसी जटिल संबंध को दृष्टिगत करते हुये स्वतंत्रता और प्रेम (जो कि वस्तुतः प्रेम नहीं यौन–इच्छा है) को परस्पर बैरी बताते हैं।[31] और सीमोनवील इस 'बैर' को साधने के लिये एक दोस्तानेपन या निस्संगता का रास्ता सुझाते हैं जहाँ न अतिरिक्त रूप से समर्पण होगा और न ही प्रचंड अधिकार–भावना।[32]

प्रेम एक उत्पादन है जो 'देने' की प्रक्रिया में 'पैदा करता' है। प्रेम में 'देना' सबसे महत्वपूर्ण है लेकिन यह देना 'छोड़ना' नहीं है; बल्कि देने के दौरान कुछ प्राप्त करना है। प्रेम एक ऐसी शक्ति है जो प्रेम पैदा करती है। प्रेम के क्षेत्र में 'देने' का तात्पर्य जितना भौतिक वस्तुओं से नहीं जुड़ा है उतना मनुष्य की भावनाओं से जुड़ा हुआ है।[33] किसी से प्रेम करने का

यह मतलब कभी नहीं होता कि वहाँ आवश्यक रूप से अपने जीवन की बलि ही दी जाय; बल्कि एक सच्चा प्रेमी दूसरे व्यक्ति को (जिससे वह प्रेम करता है) 'अपने जीवन का आनंद, अपनी दिलचस्पी, अपनी समझ, अपना ज्ञान, अपनी हंसी और यहां तक की अपने आंसू' भी देता है जो कि उसके जीवन का सार होता है। यह सब वह बदले में कुछ पाने के लिये नहीं देता है बल्कि देने में ही वह 'परम आनंद' की अनुभूति करता है।[34] यह परिपक्व प्रेम की दृष्टि है; जब कि एक अपरिपक्व प्रेम केवल पाने के प्रयोजन से ही संचालित होता है। उसका चरित्र बाजार के सदृश होता है जो कुछ देने के बदले में कुछ भी न पाने की दशा में अपने आपको ठगा हुआ महसूस करता है। एक परिपक्व प्रेम में 'देना' पुंसत्व की चरम अभिव्यक्ति होती है। इसीलिए व्यक्ति या प्रेमी इस 'देने की प्रक्रिया' में अपनी विशिष्ट शक्ति और समृद्धि का अनुभव करता है। और , 'उच्चतम पौरूष और पुंसत्व' की यह घटना उसे सर्वोत्तम आनंद के अहसास से सराबोर कर देती है। परंतु गौर करने वाली बात यह है कि, आनंद में वृद्धि करने वाली यह प्रक्रिया तब तक पूर्ण नहीं होती या अधूरी रहती है जब तक देने की क्रिया सामने वाले के अंदर भी कुछ जगा न दे, कुछ पैदा न कर दे। प्रेम अगर प्रेम न पैदा न कर सके तब तो वह पुंसत्वहीनता की स्थिति होगी। ऐसी स्थिति में आनंद खंडित ही होगा। इस बात की सत्यता की परख का सामान्य उदाहरण यौन क्रिया का है– "इस क्रिया में पुरुष को सबसे ज्यादा आनंद उन्हीं क्षणों में प्राप्त होता है, जब वह अपने आपको, अपने यौनांग को स्त्री को दे रहा होता है– और उसके इस आनंद का चरम बिंदु होता है स्त्री की योनि में उसके वीर्य का स्खलन। अगर उसमें पुंसत्व है, तो वह अपना वीर्य स्त्री को देगा ही और अगर वह नहीं दे सकता तो इसका अर्थ है कि वह पुंसत्वहीन है। स्त्री के साथ भी प्रक्रिया लगभग यही रहती है, भले ही कुछ जटिलता भरी। वह भी अपने आपको देती है, अपने नारीत्व के केंद्र के द्वार खोलती है; पाने की प्रक्रिया में ही वह देती भी है। लेकिन अगर वह ऐसा नहीं कर पाती, सिर्फ ले सकती है, दे नहीं सकती, तो उसे 'ठंड़ी' कहा जायेगा।"[35] वस्तुतः एक वास्तविक प्रेम में पाने की भावना सर्वोच्च नहीं होती है लेकिन पुनः ध्यान रखना चाहिये कि प्रेम मनुष्य के अंदर उपलब्ध एक उत्पादक क्षमता का नाम है। मार्क्स ने इस बात को बड़े ही तार्किक ढंग से व्यक्त किया है– "अगर आप कला का आनंद लेना चाहते हैं, तो आपको एक कलात्मक तौर पर प्रशिक्षित व्यक्ति होना पड़ेगा, अगर आप लोगों को प्रभावित करना चाहते हैं, तो आप में दूसरों का उत्साह जगाने के और उन पर अपना प्रभाव छोड़ने के गुण होने चाहिये। .... अगर आप प्रेम को उत्साहित किये बगैर प्रेम करते हैं, या यूँ कहें कि अगर आपका प्रेम, प्रेम को पैदा नहीं करता है, अगर प्रेम करने वाले एक व्यक्ति के रूप में, और जीवन की अभिव्यक्ति के माध्यम से आप अपने–आपको

एक 'प्रेम किया जा सकने वाला व्यक्ति' नहीं बना पाते– तो आपका प्रेम पुंसत्वहीन है, एक दुर्भाग्य है।"[36]

आधुनिक पूंजीवादी समाज एक प्रबंधकीय नौकरशाही और पेशेवर राजनीतिज्ञों द्वारा निर्देशित किया जा रहा है– जो अपनी चरम उपभोग की प्रवृत्ति के लिये किसी भी स्तर तक प्रतिबद्ध है। समाज की सभी गतिविधियाँ मात्र आर्थिक लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु ही संचालित की जा रही हैं– इस प्रकार साधन ही साध्य बन गया है। और, इन कठिन परिस्थितियों में एक मनुष्य बड़े लचीलेपन के साथ सहयोग करने वाली एवं सरलता से नियंत्रित की जाने वाली 'मशीन' का रूप ले चुका है। वह एक 'नौ से पाँच' वाला यंत्र है; जिसका काम, काम करने का तरीका, गति, समय, बीच का अंतराल आनंद के साधन और यहाँ तक कि उसकी भावनायें भी तयशुदा हैं। उसे अपनी इस दयनीय स्थिति के बारे में सोंचने की भी फुर्सत नहीं है। इस प्रकार व्यक्ति बढ़िया भोजन, बढ़िया वस्त्र और बढ़िया रहन–सहन की स्थितियाँ पाकर के भी स्वाभाविक मानवीय गुणों और जीवन के वास्तविक हर्षोल्लास से वंचित रहता है।[37] उल्लेखनीय है कि इन विस्फोटक स्थितियों के बीच, वह यदि इस अलगावपूर्ण ढांचे से मुक्त होने का कोई प्रयास करता भी है अर्थात् प्रेम करने की कोशिश करता है तो उसका परिणाम एक तरह का 'सुरक्षा–स्थल' या 'पड़ाव' ढूंढने तक ही सीमित रहता है। 'एक' की जगह 'दो' व्यक्तियों की 'टीम' सम्मिलित रूप से इस यांत्रिक दुनिया का मुकाबला करती है; और इसे ही वे 'प्रेम और अंतरंगता के झूठे नाम से पुकराते हैं। सच्चाई यह होती है कि वे जीवन भर साथ रहने के बाद भी एक–दूसरे के लिये अजनबी बने रहते हैं। क्योंकि, मशीनी मनुष्य सिर्फ अपने 'पर्सनेलिटी पैकेजेज' का लेने–देन कर सकते हैं– एक 'सफल सौदे' की आशा मात्र। यह प्रेम के सामने नये तरह का जोखिम है जिसके लिये निश्चित रूप से नये 'जोखिमवाद' की आवश्यकता पड़ेगी। वस्तुतः उस सामाजिक संरचना में जहाँ हर व्यक्ति अपने लिये लाभदायक स्थिति पैदा करने के लिये प्रयासरत है, जिसमें व्यावसायिक ईमानदारी (जो कि अंदर से धोखाधड़ी होती है) नैतिकता की एकमात्र कसौटी है; प्रेम का सामान्य कथन यही हो सकता है कि आज की दुनिया में कोई सिरफिरा ही या शहीदी ही प्रेम कर सकता है। इसलिए प्रेम क्रांति भी है। 'क्याप' की 'प्रेम दीवानी' भी इसी निष्कर्ष पर पहुंचती है– "मैं मूरख तो बस इतना ही जानती हूँ कि बगैर जोखिम उठाये तो कोई क्रांति होने से रही इसीलिये मैंने जोखिम उठा रखा है।"[38] 'कसप' में गुलनार जिस पूंजीवादी कुतर्क को कहती है– कि "मित्रता हो सकती है, शारीरिक आकर्षण हो सकता है, मानसिक– व्यवसायिक साझेदारी हो सकती है और हद से हद अंतरंगता हो सकती है। प्यार कुछ नहीं होता, एक पक्ष मूढ़ हो तो बात अलग है।"[39] 'क्याप' में जैसे उसका अंतिम

रूप से समाहार कर दिया गया है– "प्यार होता है तो पहली ही नजर में पूरी तरह हो जाता है। दूसरी नजर में में तो आलोचना हो सकती है, पुनर्विचार हो सकता है।"[40]

अंतिम रूप से, प्रेम के विरुद्ध किसी भी प्रकार के नकारवाद या सामाजिक अपमूल्यांकन की दृष्टि– जहाँ प्रेम को 'स्यादवाद' मान लिया जाता है– प्रेम शायद सत्य है, शायद नहीं; शायद है भी, नहीं भी है और अनिर्वचनीय भी; यह मरता भी नहीं जीता भी नहीं–पुनः भूल–गलती भी मान लिया जाता है, जो गलतियाँ नहीं करता है स्वयं गलती है– के बरक्स एरिक फ्रॉम के इस लम्बे कथन की सहायता ली जा सकती है, जिसमें वे सभी विपरीत परिस्थितियों में प्रेम के बने रहने के प्रति आशावादी हैं– ".....प्रेम ही मानवीय अस्तित्व की समस्या का 'एकमात्र तार्किक और संतोषजनक' समाधान है– तो इस प्रेम को हाशिये पर रखने वाला कोई भी समाज एक–न–एक दिन अपने ही विरोधाभासों तले ध्वस्त हो जायेगा; क्योंकि मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति के विरुद्ध जाने का दूसरा कोई भी परिणाम नहीं हो सकता। प्रेम की बात करने का मतलब 'उपदेश' देना नहीं– बल्कि यह हर मनुष्य की अंतिम और वास्तविक जरुरत से जुड़ी हुई बात है। यह जरुरत आगर वर्तमान स्थितियों में हाशिये में धकेल दी गयी है, तो इसका यह मतलब नहीं है कि इसका अस्तित्व ही खत्म हो गया है। प्रेम की प्रकृति पर बात करने का अर्थ है आज की स्थितियों में इसके अभाव की चर्चा करना, और उन सामाजिक कारणों की आलोचना करना जो इस अभाव के लिये जिम्मेवार हैं। एक सामाजिक सच्चाई के रूप में– न कि केवल अपवादों और वैयक्तिक घटनाओं के रूप में–प्रेम की संभावना में आस्था रखना मनुष्यता में आस्था रखने के समान है।"[41]

प्रेम के किसी भी विज्ञान, मजबूरी और तल्ख दुनिया में उसकी महत्वपूर्ण जरूरतों को (जिनकी व्याख्या करने की कोशिश अभी तक की गई है) निम्न कविताओं के क्रमवार निष्पादन में सरलता से समझा जा सकता है; हालाँकि यह नये तरह का 'प्रयोगवाद' होगा (शोध करने का) लेकिन शायद इसी बहाने प्रेम के उस 'जोखिमवाद' की अंत्येष्टि हो सके, जो प्रेम को 'सशरीर बैकुंठी' मानने में विश्वास करती है–

(1) "स वै नैव रमै। तस्मादेकाकी न रमते। स द्वितीयमैच्छत्।

'निश्चय वहीं रमा नहीं। इसीलिये एकाकी

रमता नहीं। उसने दूसरे की इच्छा की।"[42] – वृहदारण्यकोपनिषद

(2) "अपने जीवन का रस देकर जिसको यत्नों से पाला है–

क्या वह केवल अवसाद–मलिन झरते आँसू की माला है?

वे रोगी होंगे प्रेम जिन्हें अनुभव रस का कटु प्याला है–

वे मुर्दे होंगे प्रेम जिन्हें सम्मोहनकारी हाला है।

मैंने विदग्ध हो जान लिया, अंतिम रहस्य पहचान लिया–

मैंने आहुति बनकर देखा यह प्रेम यज्ञ की ज्वाला है ?''[43] –अज्ञेय

(3) 'प्रेम को पथ कराल महातरवार की धार पे धावनो है' – धनानंद

(4) "Ah, love, let us be true
To one another! For the world, which seems
To lie before us like a land of dreams,
So various, so beautiful, so new,
Hath really neither joy, nor love, nor light
Nor certitude, nor peace, nor help for pain;
And we are here as on a darkling plain
Swept with confused alarms of struggle and flight,
Where ignorant armies clash by night.[44]

–Arnold (Dover Beach)

[1] बेर्टोल्ट ब्रेष्ट : इकहत्तर कवितायें और तीस छोटी कहानियाँ, 1998, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, पृ0–82
[2] मनोहर श्याम जोशी, 2001, कसप, राजकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, पृ0–239
[3] पूर्व, पृ0–250
[4] मनोहर श्याम जोशी, 2001, क्याप, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–64
[5] पुरुषोत्तम अग्रवाल, 2000, विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–168
[6] एरिक फ्रॉम/अनु. युगांक धीर, 2002, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, संवाद प्रकाशन, मुंबई/मेरठ, पृ0–16
[7] पुरुषोत्तम अग्रवाल, विचार का अनंत, पृ0–167
[8] एरिक फ्रॉम/अनु. युगांक धीर, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, पृ0–48–49
[9] सुधीर ककर,, जॉन एम. रास, 1992, टेल्स ऑव लव, सेक्स, एंड डेजर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, पृ0–83
[10] साहित्य समाज का प्रतिबिम्ब होता है। इसे इस तरह से भी कह सकते हैं कि समाज ही उलट–पलट कर के साहित्य में प्रतिबिम्बित होता है। तत्कालीन समय के समाज की स्थिति यह थी, ए.एल. बाशम के शब्दों में– "प्रारंभिक युग में सर्वाधिक लोकप्रिय त्यौहार वसन्तोत्सव था, जो प्रेम के 'देवता' काम के सम्मान में मनाया जाता था।... वह एक अत्यधिक लोकप्रिय देवता था। वह एक सार्वभौमिक आमोद का समय तथा सर्व प्रकार की छूट के उल्लासोत्सव का एक प्रकार था।" (1997, अद्भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा, पृ0–172–73) अतः, समाज की इस स्थिति के मद्देनजर, उस समय का साहित्य भी 'कामोल्लास का उत्सव' ही हो तो आश्चर्य नहीं होना चाहिये।
[11] ए.एल. बाशम, अद्भुत भारत, पृ0–141
[12] इस विचार की अभिव्यक्ति उस मिथक में बखूबी हुयी है जिसके अनुसार नर और मादा पहले एक इकाई थे, जो दो भागों में विभाजित कर दिये गये और तब से दोनों भाग परस्पर मिलकर पूर्णता प्राप्त करने की तलाश में हैं। लैंगिक ध्रुवों की मूल एकता का विचार बाइबिल की आदम और हव्वा की कहानी में भी है जिसके अनुसार हव्वा का निर्माण आदम की पसलियों से हुआ है।
[13] एरिक फ्रॉम/अनु. युगांक धीर, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, पृ0–39
[14] हजारी प्रसाद द्विवेदी, 1999, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–200
[15] मनोहर श्याम जोशी, कसप, पृ0–5
[16] पूर्व, पृष्ठ–273
[17] पूर्व, पृष्ठ–273
[18] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ–71–72
[19] पूर्व, पृष्ठ–63
[20] पूर्व, पृष्ठ–64
[21] एरिक फ्रॉम/अनु. युगांक धीर, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, पृ0–109
[22] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ–82
[23] पूर्व, पृष्ठ–58
[24] एरिक फ्रॉम/अनु. युगांक धीर, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, पृ0–33–37
[25] आइजाक बेबल ने (द कलेक्टेड़ स्टोरीज) इस बात को बड़ी सशक्तता से अभिव्यक्त किया है।रूसी गृह–युद्ध के दौरान एक फौजी अफसर अपने पुराने मालिक को मार कर ही संतुष्ट नहीं होता बल्कि घंटो उसको अपने कदमों के नीचे कुचलता है, क्यों कि वह जानना चाहता है कि जिंदगी आखिर है क्या ? लेकिन पुनः सत्य यही है कि गोली मारकर और कुचलकर किसी व्यक्ति की जान ही ली जा सकती है, उसकी आत्मा तक नहीं पहुंचा जा सकता।
[26] पुरुषोत्तम अग्रवाल, विचार का अनंत, पृ–167
[27] नामवर सिंह (सं.), शमशेर बहादुर सिंह, प्रतिनिधि कवितायें, 1998, राजकमल पेपरबैक्स नई दिल्ली, पृ0–110
[28] फ्रायड के अनुसार प्रेम और कुछ नहीं उस आदिम एकत्व की स्थिति या आत्मकेंद्रीयता को प्राप्त करने का प्रयास ही है, जो व्यक्ति को माँ के गर्भ में प्राप्त था।
[29] नार्मन ओ' ब्राउन, 1970, लाइफ अगेंस्ट डेथ, वेस्लेयन यूनिवर्सिटी प्रेस, कनेक्टिकट, पृ–461। इस विचार की अभिव्यक्ति संत आगस्टाइन के इस कथन में देखी जा सकती है– "मैंने अभी तक प्यार नहीं किया था लेकिन मैं प्यार करने को प्यार करता रहा। मैं प्यार में फंसकर उस चीज को खोजता रहा जिसे मैं प्यार कर सकता।"
[30] वह पशु नहीं है जहाँ न चिंता है और न दमन; क्योंकि पशु के पास ऐक्य की कोई 'स्मृति' नहीं होती है। एक पशु में जीवनेच्छा और मरणेच्छा अविच्छेद्य होती है– संघर्षरहित, काल के प्रत्यय से मुक्त। जब कि मनुष्य में जीवनेच्छा और मरणेच्छा कभी भी एकात्म नहीं हो सकती है, भले ही उनमें एक संतुलन पा लिया जाय, जैसा कि एक परिपक्व व्यक्ति पाता भी है।
[31] जे.पी. सार्त्र, 1966, बीइंग एंड नथिंगनेस, वाशिंगटन स्क्वेयर प्रेस, यू.एस.ए., पृ0–1
[32] इलहम दिलमान, 1987, लव एंड ह्यूमन सेप्रेटनेस, बासिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड एंड न्यूयार्क, पृ0–78
[33] प्रेम में भावना का संसार जैसे–जैसे सिकुड़ता है, वैसे–वैसे प्रेम मात्र यौन–संवेग या 'शरीर' होता जाता है।
[34] केवल एक इसी तर्क के आधार पर प्रेम और यौन–घटना में भेद किया जा सकता है
[35] एरिक फ्रॉम/अनु. युगांक धीर, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, पृ0–30–31
[36] पूर्व, पृ0–32
[37] हक्सले ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास –'ब्रेव न्यू वर्ल्ड' में आधुनिक पूंजीवादी मनुष्य की इसी विशिष्ट स्थिति को चित्रित किया है।
[38] मनाहेर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–70
[39] मनाहेर श्याम जोशी, कसप, पृ0–157

[40] मनाहेर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–57
[41] एरिक फ्रॉम/अनु. युगांक धीर, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, पृ0–115
[42] मनाहेर श्याम जोशी, कसप, पृ0–6
[43] अज्ञेय, 1986, सदानीरा भाग–1, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ–169
[44] सी.बी. टिंकर एंड एच. एफ. लोरी, (सं.), 1963, 'द पोयम्स ऑफ मैथ्यू अर्नाल्ड', ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस लंदन, पृ0–211–12

अध्याय–4

कथ्य और शिल्प का अंतर्संबंध

(1)

क्था–समीक्षा के किसी भी भाषा के इतिहास की सबसे महत्वपूर्ण समस्या यह रही है कि उपन्यास की परख का सिद्धांत क्या हो ? यदि कलावादी उपन्यास को मूलतः कलाकृति मानकर एक अत्यांत पर जा खड़े होते हैं तो स्थूल यथार्थवादी उसे जीवन का दस्तावेज मानकर दूसरे अतिवाद पर पहुँचते हैं। "कलावादी यदि किसी उपन्यास का मूल्यांकन केवल समन्विति (कोहरेंस) के विश्लेषण द्वारा करते हैं तो तथाकथित यथार्थवादी की दृष्टि बराबर जीवन के साथ उपन्यास की संवादिता (कॉरस्पाडेंस) पर रहती है। तथ्य यह है कि उपन्यास न तो चित्रकृति की तरह 'कला' है और न इतिवृत्त की तरह ठेठ जीवन वृत्त।"[1] उपन्यास समाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति की एक कला है। उपन्यास की किसी भी अवधारणा का ग्रहण इसी रुप में होना चाहिए। कथ्य और रुप के संतुलित संघटन या अन्तर्संबंध में ही एक महान रचना की बुनावट निहित होती है। एक आदर्श उपन्यास में कथ्य की स्थिति उस पहाड़ी नदी की तरह होती है जो अपने प्रवाह या गति में अपने कगारों के 'रुप'–आकार खड़ा करती है। एक रुपवादी और एक यथार्थवादी हमेशा एक 'भ्रामक असमंजस' के बीच 'रस्साकसी' में संलग्न रहते हैं जिसमें वे क्रमशः उपन्यास को लेखन की एक कला अथवा सामाजिक अभिव्यक्ति का एक रूप ही मानते हैं। यथार्थवादी उपन्यासकार उपन्यास में यथार्थ की समानधर्मिता और समरूपता की प्रतीति बने रहने को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानता है। लूकाच ने अपनी यथार्थवादी दृष्टि के अनुरुप 'काफ्का और टामसमान' शीर्षक लेख में काफ्का के आधुनिकतावादी उपन्यासों की आलोचना की और टामसमान की यथार्थवादी रचनापद्धति का समर्थन किया जबकि इसके विपरीत उपन्यास में यथार्थविरोध की चरम प्रवृत्ति दूसरे महायुद्ध के बाद फ्रांस में पैदा हुए नये उपन्यास आंदोलन में देखने को मिलती है। वैसे 'नये उपन्यास' आंदोलन के पहले ही जेम्स ज्वाअस, वर्जीनिआ वुल्फ, काफ्का, प्रूस्त, कामू और सार्त्र के उपन्यासों में ही उपन्यास का परंपरागत (यथार्थवादी) स्वरूप विघटित हो चुका था, कथानक का महत्व घटा था और यथार्थ से उसका संबंध बदला था। उपन्यास के रूप में प्रयोगों की प्रवृत्ति बलवती हुई थी। लेकिन, वस्तुतः उपन्यास के प्रसंग में इन दोनों अतिवादी छोरों से प्राप्त कोई भी दृष्टि उपन्यास की सही समझ को बाधित ही करेगी। सही समझ यही हो सकती है कि– "निश्चय ही शब्दों और वस्तुओं में अंतर होता है और दूसरे कला माध्यमों की तरह उपन्यास में भी यथार्थ की सीधी पुनर्प्रस्तुति नहीं होती। उपन्यास में शाब्दिक संकेतों के माध्यम से पाठक के मन में व्यक्तियों, स्थानों, स्थितियों और घटनाओं एवं संस्थाओं की

समरुपता और समानधर्मिता की चेतना पैदा करने की कोशिश होती है। इसका आशय यह है कि यथार्थ की चेतना और अभिव्यक्ति की पद्धति के बदलने से उपन्यास यथार्थ विरोधी नहीं होता और यथार्थवाद का महत्व भी नहीं घटता।"[2]

यह उपन्यास का स्वभाव है कि वह सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करे लेकिन यह भी उल्लेखनीय है कि केवल यथार्थ की अभिव्यक्ति से कोई रचना कला–रुप नहीं हो सकती, अन्यथा सभी उपन्यासकार प्रेमचंद होते या यह भी उल्लेखनीय है कि प्रेमचंद के स्वंय के उपन्यास भी समान रूप से कलात्मक नहीं हैं। अंतोनियो ग्रामशी ने प्रश्न किया था कि दो लेखक एक ही सामाजिक ऐतिहासिक यथार्थ की अभिव्यक्ति करने के बावजूद क्यों कर क्रमशः कलाकार या कातिब साबित होते हैं ? निश्चित रूप से यह यथार्थ की अभिव्यक्ति की पद्धति और उसका ढांचा या शिल्प ही है जो दो रचनाकारों के बीच अंतर पैदा करता है, एक को महान सिद्ध करता है और दूसरे को सामान्य। लेकिन इस प्रश्न का दूसरा पहलू यह भी हो सकता है, जिस पर गौर होना चाहिए कि– क्यों कर एक महत्वपूर्ण शिल्प में आकर लेने वाले महान उपन्यास का रचनाकार जब उसी शिल्प का दोहराव अपने अन्य उपन्यासों में भी करता है तो वे उस रूप में महत्वपूर्ण साबित नहीं होते, जितना उन्हें होना चाहिए था ? 'मैला आँचल' के क्रांतिकारी शिल्प के शिल्पकार रेणु अपने अन्य उपन्यासों में वह सफलता कभी नहीं प्राप्त कर पाते हैं, जो उन्हें 'मैला आँचल' के द्वारा प्राप्त हुई थी। वे अंततः एक मेनरिज्म का शिकार लगती हैं। निश्चित रूप से ये वह अनिवार्य प्रश्न है जिनपर विचार किए बिना न तो किसी कथा–समीक्षा का शास्त्र निर्मित किया जा सकता है, और इसी क्रम में, न ही उपन्यास का वास्तविक मूल्यांकन हो सकता है। रूसी आलोचक मिखाइल बाख्तिन इस संदर्भ में एक विशेष दृष्टि उपलब्ध कराते हैं, जब वे उपन्यास में अन्तर्जगत और वाह्य जगत के द्वैत को नकारते हुए संवादधर्मिता को केंद्रीय स्थान देते हैं। उनके अनुसार न तो रचना का अन्तर्जगत पूर्णतः आत्मनिर्भर होता है और न ही वह पूरी तरह वाह्य जगत से निर्धारित ही होता है। "इसी प्रक्रिया में उन्होंने रूपवाद की आन्तरिकता की धारणा के अतिवाद के साथ–साथ मार्क्सवाद की प्रतिबिम्बनवादी मान्यताओं को भी अस्वीकार किया है। वे भाषा और कल्पना की संवादधर्मिता पर जोर देते हैं और इसी संवादधर्मिता को साहित्य की विशेषता मानते हैं। उनके अनुसार रचना के अन्तर्जगत में वाह्य जगत अन्तर्निहित होता है और लेखक की चेतना में दूसरों की चेतनता बनी रहती है। तभी संवाद संभव होता है। इसीलिये साहित्य का मुख्य गुण संवाद तथा संप्रेषण है।"[3]

(2)

हिंदी कथा–समीक्षा का रुझान मुख्यतः यथार्थवादी ढंग में या उपन्यास के जीवन का दस्तावेज सदृश होने में रहा है। ज्ञानोदय (नवजागरण) से पैदा हुई यथार्थ चेतना के तर्कवाद और आधुनिकता के गुरूत्वाकर्षण ने उपन्यास को भी विधेयवादी दृष्टिकोण से देखना शुरू किया। आधुनिक मनुष्य की चेतना जैसे–जैसे प्रत्यक्ष प्रमाणवाद और बुद्धिवाद से प्रेरित–प्रभावित होती गई, वैसे–वैसे उपन्यास को भी यथार्थ की हू–बहू रचना माना जाने लगा। कथा की वयस्कता उसके ऐंद्रिक–प्रमाणिकता, यथातथ्य, तर्कगम्यता और देश काल के सापेक्ष हो गई। जोर कथा के 'होने' पर नहीं उसके 'विश्वसनीय होने' पर होता गया और इस प्रकार 'भोगा हुआ यथार्थ' कथा की विवशता नहीं बल्कि उसके अस्तित्व की अनिवार्य शर्त बन गया। कहानी से यथार्थ अंकन की अपेक्षा करना उसकी सामाजिक उपादेयता की पहचान करना है; जो कि एक बारगी ठीक भी है। एक औपनिवेशिक अर्द्धसामंती समाज में जहाँ एक उपन्यास एक कला–रुप के तौर पर अपनी 'दूर की पहुंच' के कारण और भी महत्वपूर्ण साबित हो सकता है, यह और भी ठीक है। प्रेमचंद इस समकालीन यथार्थ की लेकिन कलात्मक अभिव्यक्ति के कारण ही महान उपन्यासकार के रुप में स्वीकार किये गये। वस्तुतः कथा सभ्यता की बदलती अन्तर्वृत्तियों अथवा सभ्यता की प्रगति के साथ मनुष्य के बदलते मन के पाठ ही तो हैं– संसार में मनुष्य के बनने–बिगड़ने की– 'दास्तान'। लेकिन गौरतलब है कि वे केवल सभ्यता के संघर्ष चिन्ह ही नहीं हैं– उसकी देह पर लगी खरोंचें ही नहीं है बल्कि उससे आगे की 'गति'–अवस्था है। वहाँ मानवीय जिजीविषा की एक और अर्थ–छवि अर्थात् आकांक्षा या स्वप्न की रेखाएँ भी मौजूद हैं। स्पष्टतः कथा जीवन के यथार्थ के कार्य–कारण संबंध का फलितार्थ नहीं है बल्कि एक कला रुप है– सभ्यता के संघर्ष और स्वप्न का सम्मिलित गतिमान बिम्ब। परवर्ती समय में कथा को मुख्यतः संघर्ष–क्षेत्र मानने के कारण जहाँ यथार्थवाद प्रकृतवाद की दशा में विस्थापित हुआ वहीं यह भी दीगर है कि कहानी का मुख्य विषय–क्षेत्र समाज और उसमें व्यक्ति का जीवन रह गया– इस पर भी लोग जीवन के व्यापक भाव–क्षेत्र से अपसरित होकर मध्यवर्गीय भावबोध में ही सक्रियता बढ़ी। मानवेतर सृष्टि की कहानी में उपस्थिति तो एक असमान्य चीज हो गई। इस रुप में कथा लगभग एक पूर्व नियत और अनुमित संरचना में बदल गई।

लोक जीवन पर हिंदी उपन्यास में यथार्थ प्रतिबिम्बन और आधुनिकता के इस बढ़ते दबाव ने कथा–रुपों की भारतीय पांरपरिक शैली को विघटित करने का काम किया है।

किस्सागों की भारतीय कथा–शैली लगभग अदृश्य ही होने लगी है। जबकि ध्यान देने की बात है कि "आंरभिक भारतीय उपन्यासों में मिथकीय कालचेतना ऐतिहासिक कालचेतना से अधिक सक्रिय दिखायी देती है। उन्नीसवीं सदी के महत्वपूर्ण उपन्यास वे ही हैं, जिनके उपन्यासों में भारतीय कथा परंपरा और उपन्यास के यूरोपीय ढ़ाचे में सर्जनात्मक तनाव है या फिर भारतीय कथा–कौशल का कुशल प्रयोग। बंकिमचन्द्र और हरिनारायण आप्टे के उपन्यासों के रचना विधान में संस्कृत की कथाशैली और वर्णन–पद्धति का उपयोग है। उर्दू में मिर्जाहादी रुसवा के उपन्यास 'उमरावजान अदा' (1899) के पहले लिखे गए अधिकांश उपन्यासों में दास्तान और किस्सागोई के शिल्प का थोड़े हेर–फेर के साथ प्रयोग है। लोक कथा के तत्वों का कलात्मक उपयोग फकीर मोहन सेनापति, प्रेमचन्द विभूति भूषण बनर्जी, फणीश्वरनाथ 'रेणु' और पन्नालाल पटेल के उपन्यासों में है"।[4] जाहिर है ये सभी अपने समय के बड़े उपन्यासकार रहे हैं। वस्तुतः उपन्यास का यूरोपीय ढाँचा अपनी उत्कृष्टता के बावजूद एक औपनिवेशिक समाज–जो कि आज उत्तर औपनिवेशिक है, की यथार्थ अभिव्यक्ति के लिए कभी अनुकूल न था।[5] यूरोपीय ढाँचा अपनी विचारधारात्मक प्रवृत्तियों, रचना–संदर्भ और उद्देश्य में भिन्नता के कारण भारतीय साहित्य के लिए एक हद से आगे अनुपयोगी ही रहा है। यही कारण है कि 19 वीं सदी में ही जब भारतीय उपन्यास 'अनुकरण के दलदल' से निकलकर अपने स्वतंत्र अस्तित्व की खोज में प्रवृत्त हुआ, तो वह आख्यान की भारतीय परंपरा की ओर मुड़ा;[6] उपन्यास के रुप को भारतीय चेतना के अनुरूप ढ़ालने की कोशिश की गई और इसी प्रक्रिया में भारतीय जीवन की वास्तविकता एवं आकांक्षा को सच्चे शब्द और रुप भी मिले। 'मुख्य बात यह है कि समाजिक दृष्टि और देशी कथा–पद्धति के उपयोग में ही भारतीय उपन्यास की संभावनायें छिपी हैं, जिसे पूर्ण जनतांत्रिक विधा बताते हुए नामवर सिंह ने पिछले दिनों 'छठे वेद' की संज्ञा दी है।.... भारतीयता की पहचान भारतीय संकट की पहचान भी है।"[7]

आज पुनः मनोहरश्याम जोशी, विनोद कुमार शुक्ल जैसे कुछ नये कथाकार भारतीय भाव–सत्य के प्रकटीकरण हेतु देशी विन्यास और मुहावरे के नए कथात्मक रूपों में संलग्न हुए हैं। स्मृति और वर्तमान के संश्लिष्ट रुप आधुनिक हिंदी कथाकारों की नई विशेषता होती जा रही है। निःसंदेह यह हिंदी उपन्यास की सार्थकता को पुनर्जीवित करने वाली घटना हो सकती है। लेकिन गौरतलब है कि इस भारतीयता की खोज को कोई 'पुनरुत्थानवादी प्रयास' न मानकर अपनी चेतना से विस्मृति की धूल पोछने के प्रयास के रूप में लिया जाना चाहिए। "... आधुनिक भारतीय कविता और उपन्यासों में रामायण–महाभारत की स्मृतियों, पौराणिक

कथाओं और मिथकों का योगदान इतना महत्वपूर्ण है क्योंकि ये संस्कृति के स्मृति चिह्न हैं, जिनके सहारे एक लेखक अपने भीतर के अतीत को अपने वर्तमान से जोड़कर एक ऐसे पैटर्न में सूचित कर पाता है जहाँ उसके विश्रृंखलित अनुभव एक तरह की अर्थवत्ता प्रदान कर सकें। एक कवि और उपन्यासकार यह उपक्रम कोई सचेत रूप से नहीं करता किंतु उसके रचनालोक के परिवेश में ये स्मृति चिह्न अदृश्य रूप से व्याप्त होते हैं.... यह वह हवा है, जिसमें रचना साँस लेती है, किंतु उसके प्रति सचेत नहीं होती। यदि आज हम अपनी भारतीयता के प्रति अत्यधिक सचेत हो गए हैं, तो इसलिए कि वह हमारी सृजन–चेतना के भीतर न रहकर हमसे दूर छिटक गई है..... हम उससे अलगाव की विरह वेदना में जीते हैं। और यह कोई बुरी चीज नहीं है, यदि साहित्य का क्षेत्र अनुभूति है... तो परंपरा और स्मृति से अलगाव की वेदना भी इसी अनुभूति क्षेत्र का अंश है, जो हमारे साहित्य को विशिष्ट ढंग से भारतीय बनाती है।[8]

(3)

मनोहर श्याम जोशी के यहाँ कथा के उपर्युक्त यथार्थवादी–विधेयवादी ढांचे के लौहजाल से मुक्त होने और विशिष्ट ढंग से भारतीय होने की कोशिश ही आख्यान अथवा किस्सागो की कथा–प्रविधि को पुनर्सृजित करती है और इस क्रम में कहानी के उस स्वैर–स्वायत्त संसार को भी जिसमें शिशु जिज्ञासा या मानवीय कौतुहल से भरे उच्छल भाव–बोध के भीतर कोई कहानी मनुष्य के यथार्थ को अंकित करती है। जोशी जी की इस कोशिश को वाल्टर बेंजामिन के इस कथन के साथ जोड़कर देखने पर निश्चित रूप से उनके इस प्रयास के महत्व के नए आयाम खुलते हैं कि आज कथा कहने के तमाम ढंग और प्रविधियाँ अंतिम छोर तक आ पहुँची हैं। ज्यादातर एक 'चकित न करने वाला ज्ञात और अति परिचित का अभ्यास भर बाकी रही गया है' उसमें भी सच का महाकाव्यात्मक पहलू और रचनाकार की नवोन्मेषशालिनी अन्तःदृष्टि भी लगभग गायब ही है।[9] स्पष्ट है कि ऐसी स्थिति में तोड़–फोड़ किए बगैर किसी नए कथा–कर्म के सृजन की बात कहना बेमानी है। जोशी जी के यहाँ यह नया कथा–सृजन उपन्यास में शैल्पिक तोड़–फोड़ के साथ रचित होता है जिसकी शुरूआत वे अपने पहले ही चर्चित और विवादास्पद उपन्यास 'कुरु–कुरु स्वाहा' में कर चुके हैं, 'क्याप' उसकी अगली कड़ी है।

'क्याप' में किस्सागो अपनी अधिक रचनात्मकता में 'फसक' यानि 'गप्प' का रूप ले लेता है गोकि मनोहर श्याम जोशी स्वयं 'फस्कियाधारवासी' हों। जोशी जी की इस फसक की प्रेरणा जाहिर है हजारी प्रसाद द्विवेदी हैं; 'कुरु कुरु स्वाहा' के आरंभ में ही जोशी जी ने हजारी प्रसाद द्विवेदी को स्मरण किया है– "स्व0 हजारी प्रसाद द्विवेदी मौज में आकर 'गप्प' को गल्प का पर्याय बता देते थे। उनकी इच्छा थी कभी सुविधा से कोई माडर्न गप्प लिखने की।"[10] स्पष्ट है कि माडर्न गप्प की द्विवेदी जी की सदिच्छा ने ही जोशी जी के औपन्यासिक लेखन को प्रेरणा–स्फूर्ति दी है। 'फसक' माडर्न गप्प ही है। 'कुरु कुरु स्वाहा' जहाँ पहला 'दृश्य और संवाद प्रधान, गप्पबायस्कोप' था, वहीं उपन्यासकार के नव्यतम उपन्यास 'क्याप' में भी यह क्रम बदस्तूर बना हुआ है। लेकिन अलग बात यह है कि आधुनिक समाज–व्यक्ति की जटिलताओं, मध्यवर्गीय मस्तिष्क के संस्कारों की महत्वपूर्ण समझ और नए समय की संभावित दिशाओं को पहचानने की गझिन दृष्टि जोशी जी की अपनी अनुभव–सपंदा है जो उनके लेखन में सर्जनात्मक उर्जा को संघटित करती है। यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि यह 'सर्जनात्मक उर्जा' का रचनात्मक दबाव ही है जो जोशी जी को द्विवेदी जी का अनुगामी बनाता है और इस प्रक्रिया में 'फसक' एवं 'फस्कायाधार' दोनों की सृष्टि करता है।

'क्याप' विचारधारा के विराट द्वन्द्व को, जो सभ्यताओं के संघर्ष से लेकर जातियों के संघर्ष तक व्याप्त है, समझने और बखानने की कोशिश का नतीजा है। वह भी इस विश्वास के साथ कि– "हर कहानी के पीछे कई कहानियाँ होती हैं।"[11] यही कारण है कि 'रहस्यमय ढिणमिणाण भैरवकाण्ड' की सामान्य घटना, जो कि कथाकार के असमान्य स्पर्श या कथात्मक युक्तियों के बीच विशिष्ट सी प्रतीत होती है, की कहानी कहने के उपक्रम में ही उपन्यास में अनेकानेक उपकथाओं का प्रवेश होता है। कभी वहाँ उपनिवेशकों के द्वारा उपनिवेशितों के विजित करने की कथा कही जाती है, कभी एक डूम गरीब युवक और पहाड़ी ब्राह्मण कन्या की क्याप प्रेम कथा का दुखांत लिखा जाता है या पुनः कभी कांग्रेस और मार्क्सवादी पार्टियों के दुचित्तेपन की खबर भी ली जाती है। आगे उपन्यास के नायक के द्वारा स्थापित किए गए कृत्रिम से लगने वाले 'महात्मा मार्क्स आश्रम' के दुःस्वप्न सिद्ध हो जाने की कहानी भी कही जाती है जहाँ जैसे नायक के द्वारा अपनी चरम निराशा में (और कोई हल न मिलने पर) गाँधीवाद और मार्क्सवाद के अद्भुत मेल के द्वारा ही शायद यदि संभव हो, तो समाज के उन्नत भविष्य हेतु कोई सार्थक समाधान को खोजने की चेष्टा की जाती है, लेकिन हल की आशा अंततः क्याप ही होती है। कथा के विचार का मूल या कथा में अनेकानेक उपकथाओं के प्रवेश के उद्यम का स्रोत अर्थात्– 'ढ़िणमिणाण भैरव रहस्यकांड' नायक के आश्रम के उद्देश्य

के क्याप हो जाने की इसी दशा में घटित होता है। कथा यहीं पर खत्म हो जाती है या यह भी कह सकते हैं कि कथा यहीं से शुरू होती है क्योंकि जैसा कि पहले ही स्पष्ट कर दिया गया है कि कथा का रचाव 'ढ़िणमिणाण भैरव रहस्यकाण्ड' के रहस्य को अनावृत्त करते हुए ही संपन्न हुआ है। कथाकार प्रारंभ से ही एक रुप में कहानी कहने की फ्लैशबैक या पूर्वदीप्ति शैली का उपयोग करता है इसीलिए कथा की शुरूआत जहाँ 'ढ़िणमिणाण भैरव रहस्यकाण्ड' है वहीं अंत भी 'ढ़िणमिणाण भैरव रहस्यकाण्ड' ही। वस्तुतः कथा को इस शिल्प में रचा गया है– वृत्तनुमा– कि कहीं से भी शुरू करके अंत तक पहुँचा जा सकता है। कथा की आदि–मध्य–अवसान की अवधारणा जैसे ध्वस्त ही हो गयी है।

स्पष्ट है कि उपन्यास तर्क की अपेक्षा 'संयोगों' से बनती कथा है एक 'संयोग प्रधान कहानी' है, जो कि 'फसक' की शैली में ही पुष्ट हो सकती है। इसीलिए फसक की कथा–प्रविधि का उपयोग उपन्यासकार के निजी चुनाव से अधिक कथ्य को प्रमाणिक दिखाने की मजबूरीवश है। वस्तुतः ऐसे समय में जहाँ सारे तार्किक विचार 'सत्य से दूर हों' संयोगों के माध्यम से ही सत्य की सीमित ही सही, लेकिन निष्कृति संभव हो सकती है। एक पाठीयता अगर अर्थ पाने की नाकाम कोशिश में बदल जाए, तो पाठों की बहुलता ही वहाँ एकमात्र उपाय रह जाता है जिनमें संगति के लिए संयोग आवश्यक है और पुनः 'संयोगों' की संगति के लिए जैसे फसक की नाटकीयता अनिवार्य। यही कारण है कि अनेक पाठों वाली कथा कहना वह भी गपियाते हुए जोशी जी की औपन्यासिक युक्ति बन चुकी है, परवर्ती उपन्यासों– 'हरिया हरक्यूलीज की हैरानी' और 'हमजाद' में तो यह और भी प्रबल हुई है।

लेकिन गौरतलब है कि उपन्यास में 'फसक' की उल्लेखनीय सर्जनात्मकता लगभग उतनी ही दूर की है जहाँ तक फस्कियाधार में हैरिसन के द्वारा 'अप्रीतिकर परिवर्तन' घटित नहीं किया जाता है– या बहुत हद तक नायक रमुआ की प्रेम कहानी के क्याप होने तक फसक की शैली का रचनात्मक उपयोग उपन्यासकार के द्वारा किया गया है। उसके आगे तो जैसे–जैसे कथ्य में विचार का आग्रह समाविष्ट होता जाता है वैसे–वैसे फसक भी सपाटबयानी में अदृश्य सा हो जाता है। उपन्यास के उत्तरार्ध में मार्क्सवादी नीतियों के विचारात्मक विश्लेषण में जैसे गप्प की शैली की रचनात्मक कथास्थितियाँ भी मृतप्राय हो जाती हैं। कथानक के विषय को देखते हुए एकबारगी यह तर्कसंगत ठहराया भी जा सकता है लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि फसक की अदृश्यमानता उपन्यास की कलात्मकता को नकारात्मक रूप से प्रभावित करती है। हालाँकि उपन्यास के अंतिम भाग में उपन्यासकार

'महात्मा मार्क्स के आश्रम' के यूटोपिया में अपनी सर्जनात्मक कल्पना को पुनः प्राप्त कर लेता है– फसक की भंगिमा में फैंटेसी के उपयोग से उस रचनात्मकता को फिर से उपलब्ध किया जाता है जिसके कारण कोई रचना अनुकृति से आगे बढ़कर अनुसृजन होती है। वस्तुतः "गप्प सिर्फ गप्प हो तो बात और होती है पर जब वह जिंदगी की जटिलताओं को विषाद और पीड़ा को कॉमिक–ट्रैजिक लहजे में झेल जाने का मुखौटा हो जाए तो चुनौती कुछ दूसरे ढ़ंग की होती है। कहना न होगा कि– ऐसी चुनौती को मनोहर श्याम जोशी लगभग शगल की तरह स्वीकार करते और सीधी कलम से अन्जाम देते हैं।"[12]

महत्वपूर्ण बात यह है कि मनोहर श्याम जोशी नई औपन्यासिक विधि के रचनाकार हैं। रहस्य की नींव पर कथा की सृष्टि 'कुरु कुरु स्वाहा', 'हरिया हरक्यूलीज की हैरानी' के अतिरिक्त 'क्याप' की भी विशेषता है। रहस्य के माध्यम से जोशी जी कई तरह की सुविधाएँ लेते हैं– कथा का विस्तार, अतिवाचन, निष्कर्षमूलकता से बचना, कई दृष्टियों से व्याख्यायित होने की सुविधा। स्वप्न देखने की कला तो अन्य शिल्प में भी संभव हो सकती है लेकिन स्वप्न के संकट की स्थिति को लगातार बनाये रखने की सुविधा शायद मात्र रहस्य से आलोकित शिल्प में ही उपस्थित हो सकती थी। अतः रहस्य उपन्यास 'क्याप' की बुनियादी प्रविधि बनकर ही नहीं उभरता बल्कि स्वप्न के क्याप बने रहने के लिए भी वह जरूरी है। चूँकि, नई सामाजार्थिक व्यवस्था में लेखकीय स्वप्न के क्याप हो जाने के संकट की अवस्था अनचाहे और असामयिक रूप से संभवतः बनी ही रहे अतः उपन्यास से रहस्य का पर्दा भी उठता हुआ नहीं दिखता।

विभाजन के बीच सत्य की परख मनोहर श्याम जोशी की कला–प्रविधि ही नहीं मानसिक अवस्था भी है। 'कुरु कुरु स्वाहा' में जहाँ विभाजित मध्यवर्गीय व्यक्तित्व के माध्यम से विभाजित मध्यवर्गीय सत्य तक की पहुँच पाई गई है, 'क्याप' में यह केवल 'आँखन देखी' यानि तस्वीर उतार देने भर से ही पा ली गई है। लेखक स्वयं किसी सत्य या महावचन से बचता रहा है। रहस्य से पर्दा नहीं उठाना इसी कोशिश का हिस्सा है। वह पाठक या आलोचक दोनों को तराजू में अपने–अपने हिसाब के बटखरे रखने का सुयोग देता है। उपन्यासकार स्वप्नजीवी है, स्वप्न के पूर्ण नहीं होने की मर्मांतक पीड़ा भी उसी को है, लेकिन कोई निष्कर्ष कथन नहीं है। यह शायद लेखक की उत्तर–आधुनिक टेक्नीक है। और यही कारण है कि इतने कम पृष्ठों में जोशी जी न केवल अपना स्वप्न कहने का आशय स्पष्ट कर सके हैं वरन् स्वप्न के स्वयं दुःस्वप्न होते जाने की परिस्थितियों और दशाओं का सविस्तार

वर्णन कर सके हैं। हालाँकि उपन्यास के अंत में 'महात्मा मार्क्स के आश्रम' रूपी गड़बड़झाला में वह बिगड़ी हुई स्थितियों का समाधान खोजने की कोशिश करते हुए जरूर नजर आते हैं लेकिन निश्चित रूप से यह एक संवेदनशील लेखक की उस दारूण मनः स्थिति की हड़बड़ी है जहाँ उसके प्रत्येक स्वप्न बस अंत हुआ होना चाहते हैं। हर तरह का विचार और साधन सार्थक उपाय देने में अक्षम हैं। अतः लेखक जल्दी–जल्दी सब कुछ अजमा लेना चाहता है।

यदि सृजन एक सामाजिक क्रिया है– समाज से संवाद का एक माध्यम, तो भाषा इस सृजन की पहली आवश्यकता है। कथ्य की उपस्थिति उसका संवर्धन और संप्रेषण भाषा की ही संभावनाएँ और सीमाएँ हैं। वस्तुतः "एक कविता और कहानी भाषा का वह मोनोलॉग, एकालाप है, जो वह अपने संसार से करती है, किंतु जिसमें हर पाठक का संसार वाणी पा लेता है। लेखक महज एक माध्यम है, भाषा के इस मोनोलॉग को अपनी रचना में दर्ज करने का जिसे वह एक 'डांस ड्राफ्ट' की तरह दरवाजे के पीछे से सुनता है।"[13] 'क्याप' भी भाषा भी एक मोनोलॉग है जो जोशी जी के माध्यम से शरीर ग्रहण करती है। मनोहर श्याम जोशी शिल्पचेतस् लेखक हैं। लेकिन केवल शिल्प के जोर पर फसक की आदिम शैली का रचनात्मक निर्वाह मुश्किल कर्म है, एक सर्जनात्मक भाषा यहाँ अनविार्य सी चीज हो जाती है। मिथकीय स्मृतियों या अतीत के गहन स्मृत्याभासों के बीच क्याप में भी सर्जनात्मक भाषा की प्राप्ति की गई है। वस्तुतः "भाषा रचनाकार का वाह्य और आंतरिक दोनों पक्ष है। एक रचनाकार अपने शब्दों को ढीले तौर पर इस्तेमाल करके उन्हें नष्ट करने की ऐय्याशी नहीं बरत सकता।"[14] जोशी जी के यहाँ 'क्याप' में ही नहीं, वरन् पूरे उपन्यास लेखन में एक रचनाकार होने के बतौर ऐय्याशी नहीं बरते जानेकी पूर्ण सजगता देखी जा सकती है। 'क्याप' में फस्क्याधारवासियों की गप्पों में तो भाषा का महत्तम रचनात्मक रूप व्यक्त हुआ है। ये गप्प भाषा में रचे गए क्रूर व्यंग्य हैं। लेकिन ये गप्प ही हैं जिनके सहारे आत्महत्या को प्रेरित करती हुई, अपनी अलगाव और अभावों से भरी विषम परिस्थितियों को फस्कियाधारवासी अपने लिए जीवनदायिनी बना पाते थे। जोशी जी की भाषा भी जैसे अपनी चरम सर्जना के क्षण इन्हीं गप्पों में ही प्राप्त करती है। उदाहरणस्वरूप मूली के न होने को, जैसे मूली की बतरस से ही प्राप्त करने की यह कोशिश– "फर्ज कीजिए किसी ने जौनपुर की मूली का जिक्र किया कि वह बहुत बड़ी और भारी होती है। इस पर हमारी तरफ वाला बड़े विनम्र स्वर में कहता– 'महराज, मैंने आपकी वो जौनपुर वाली मूली तो नहीं देखी ठहरी। अपने नाना जी के बाड़े में जो मूली होने वाली हुई उसके बारे में जरूर जानता हूँ।..... एक–एक हाथ तो जमीन से ऊपर निकली ठहरी मूलियाँ । जमीन के भीतर का किसे पता। और मोटाई पूछते हो तो मैंने

अंगवाल डाली तो हाथ छोटे पड़ गये कहा। हिलाता हूँ तो हिली ही नहीं। कुदाल से खोदना शुरू किया तो मेरी कबर जैसी बन गयी, लेकिन मूली फिर भी नहीं निकली।"[15] स्पष्ट है कि भाषा का पूर्ण व्यंजक रूप इन गप्पों में अभिव्यक्त हुआ है।

परन्तु ध्यान देने की बात यह है कि सारी सजगता के बाद भी 'क्याप' की सर्जनात्मक भाषा में कहीं–कहीं फाँक भी है। उपन्यास के कुछ अंशों में भाषा भाषणनुमा है, कुछ पृष्ठों में तो जैसे सपाटबयानी को ही रचनात्मकता मान लिया गया है। यह स्थिति साधारणतया वहीं दिखायी पड़ती है, जहाँ उपन्यासकार फसक की शैली को त्यागकर आत्मालाप या विश्लेषण के क्षेत्र में घुसता दिखायी देता है। आत्मालाप या आत्मविश्लेषण की दशा में तो लेखक एक बार फिर भी भाषा की कलात्मकता की रक्षा करने में एक हद तक सफल रहा है– "मेरी क्रांतिकारिता मुझे परेशान कर रही थी लिहाजा मैं खड़ा–खड़ा ही क्रांति की ओर दौड़ता रहा। इस दौड़ के लिए मुझे उपयुक्त स्थान साहित्य–संस्कृति के मोर्चे पर मिला जहाँ अपने क्रांतिकारी गर्जन–तर्जन से मैं दसों–दिशाओं को गुंजाता रहा कूर्मांचला–जैसे लोगों को सही दिशा दिखाता रहा और जरा सी डीविएशन होने पर ऐसी फटकार सुनाता रहा कि उन्हें डायरिया हो जाने लगा।"[16] किंतु जहाँ–जहाँ मार्क्सवादी पार्टियों या कांग्रेस की विफलताओं का विश्लेषण हुआ है वहाँ ऐसा प्रतीत होता है कि गोया गणित की कोई प्रश्नमाला हल की जा रही हो – एक–एक बात को क्रमवार स्पष्ट किया जाता है– "उस सपने के अनुसार स्वाधीन और समाजवादी तेलंगाना, स्वाधीन समाजवादी हैदराबाद की नींव बनाने वाला था और स्वाधीन समाजवादी हैदराबाद स्वाधीन समाजवादी भारत की। इधर तेलंगाना वाले देहात के मोर्चे पर क्रांति का नेतृत्व करने वाले थे और उधर रेलवे मजदूर शहर के मोर्चे पर लेकिन समाजवादी नेहरु ने न केवल निजाम की रियासत को स्वाधीन भारत में शामिल कर लिया बल्कि रजाकरों के साथ–साथ तेलंगाना के क्रांतिकारी किसानों को भी कुचल कर रख दिया।"[17] इसके अतिरिक्त उपन्यास के प्रारंभिक परिच्छेदों में जहाँ फस्क्याधार का सामाजिक–भौगोलिक–सांस्कृतिक परिदृश्य स्पष्ट किया गया है, सपाट बयानी का अच्छा खासा उपयोग उपन्यासकार के द्वारा किया जाता है।

प्रसंगवश, पुनः उल्लेखनीय है कि इन बाधात्मक फाँकों के बावजूद 'क्याप' की कथात्मक भाषा की उपलब्धि यह है कि वह अपनी संपूर्णता में सर्जनात्मक ही साबित होती है। वस्तुतः मामूलीपन में छिपे अर्थ को खोज निकालने के लिए उपन्यास की भाषा जितनी बेपरवाह दिखती है, उतनी ही सधी हुई और चौकन्नी है। यद्यपि यह न तो 'कुरु कुरु स्वाहा'

की तरह प्रयोगधर्मी है और न 'कसप' की तरह गीति संवेदना से युक्त, लेकिन फिर भी ऐसा नहीं है कि उपन्यासकार प्रयोगों को लेकर तटस्थ हो और उपन्यास लयात्मकता एवं गति से पूर्णतः मुक्त हो। उपन्यास संयोगों के अंतराल की उपकथाओं में काफी प्रवाहमान है। इसी प्रकार उपन्यास के नए प्रयोग–धर्म ये हैं– कि एक तो वहाँ कुछ खास तरह के शब्दों के अभिनव विकास में एक खास अक्षर की बारंबार पुनरावृत्ति के द्वारा पैदा हुई ध्वनि की लय से कथ्य के कुछ खास मोटिफों या संदेशों को व्यक्त किया गया है। जैसे–उपन्यास के अंत की क्याप अवस्था में जब बीसवीं सदी के तमाम क्रांतिकारी नारों और फतवों की नायक के कानों में न जाने कब से बसी हुई अनुगँज सहसा गायब होने लगती है अर्थात् नायक कुछ भी कर पाने में असफल रहता है तो उपन्यासकार नायक की इस क्याप दशा को जंगल की चिड़िया की बोली में, इस प्रकार व्यक्त करता है– ' के लै नि भै, के लै नि भै'– कुछ भी नहीं हुआ, कुछ भी नहीं हुआ। यह ध्वनि की लय से जैसे बिम्ब बनाने का विधान है जो 'क्याप' की अपनी उपलब्धि है। इसी क्रम में यह भी दर्शनीय है कि उपन्यासकार के द्वारा उपन्यास में 'बामण–हामण', 'रूस–हूस', 'लेनिन–हेनिन', 'लंदन–हंदन', जैसे विशेष पदबंधों का प्रयोग किया गया है जो और कुछ तो नहीं पाठ को रोचक अवश्य बनाते हैं।

जोशी जी के कथालेखन में एक किस्म का 'मैनरिज्म' भी है हालाँकि यह 'न्यूट्रल' किस्म का है, जो जोशी जी की एक खास पहचान बनाने के अतिरिक्त कथा की संरचना में कोई नकारात्मक हस्तक्षेप नहीं करता है। उनके उपन्यास लेखन में अनेक कथात्मक युक्तियाँ कथात्मक रूढ़ि का रूप ले चुकी हैं। पहली तो कई–कई उपकथाओं वाली कथा ही है जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त जोशी जी के पाँच उपन्यासों में तीन का शीर्षक 'क' से शुरू होता है– 'कुरु कुरु स्वाहा,' 'कसप' और स्वयं 'क्याप'। (उनका एक और उपन्यास जिसके अंश पत्रिका में धारावाहिक प्रकाशित हो चुके हैं, का शीर्षक भी 'क' से ही है– 'कपीशजी!) कथा के लोकेल में कूर्मांचल का पुट उनके लगभग सभी उपन्यासों की विशेषता रही है– सिर्फ 'हमजाद' को छोड़कर; मात्रा का फर्क हो सकता है। 'क्याप' का मुख्य घटना स्थल फस्क्याधार कूर्मांचल में ही है। 'कसप' की भाँति–'मूल कथा संस्कृत में लिखी बेढ़ब सी कादम्बरी है'[18] 'क्याप' में भी कहानी की मौलिकता खंडित है– 'अफसोस कि यह कहानी पहले लिखी जा चुकी है। छह माह पूर्व यह हमारे मीडिया की सुर्खियों में छाई रही और अब कूर्मांचली ने, जो एक जमाने में मेरा शिष्य रह चुका है, 'हंस' के ताजा अंक में उसे रचनात्मक साहित्य का अंग बनाते हुए छपवा डाला है।'[19] इसी क्रम में यह भी ध्यान दिया जा सकता है कि रहस्य को रहस्य रहने देने की प्रवृत्ति 'हरिया हरक्यूलीज की हैरानी' के बाद

बढ़ी है जो 'क्याप' में पुनराविष्कृत है– "गोया सच कौन जानता है; कि कुरूसोवावाली कला को उन्होंने अपनी जीवन दृष्टि बना लिया है। यद्यपि इसके बीज 'कुरु कुरु स्वाहा' में भी थे किंतु 'क्याप' तक आते–आते यह एक सपाट बुझौवल बन गया है।..... इक्कीसवीं सदी जहाँ आकर सारे बौद्धिक, वैज्ञानिक विचार, विश्लेषण विचारधाराएँ, जीवनदृष्टियाँ समाप्त हो जाती हैं और एक खोखली निरर्थकता ही शेष रह जाती है। उपन्यास का अंतिम परिणाम भी इसी बोध या एहसास में होता है। किंतु लेखक इतनी आसानी से इस निष्कर्ष तक नहीं पहुँचता या पहुँचना चाहता। वह अनेक 'टेढ़े–मेढ़े रास्तों' का जाल बिछाता है और वहाँ तक पहुँचने के लिए पर्याप्त द्राविड़ प्राणायाम करता है। उपन्यास इसी द्राविड़ प्राणायाम का परिणाम है।"[20]

उपन्यासकार के यहाँ नायकत्व की परंपरागत अवधारणा को तोड़ने की प्रवृत्ति भी है। "मनोहर श्याम जोशी ने प्रारंभ से ही अपने नायकों को अपेक्षाकृत निष्क्रिय, भीरू, निर्णय–दुर्बल और विदूषकीय मुद्रा वाला मनुष्य बनाया है। 'कुरु कुरु स्वाहा' से लेकर 'क्याप' तक।"[21] मनोहर, जोशी, मैं से लेकर डी.डी., तखतराम अहमदिया..... और रमुआ तक। 'क्याप' का रमुआ क्रांति के अपने सारे प्रयासों के बीच अंततः एक विदूषक ही सिद्ध होता है और उसकी कहानी एक कॉमिक–ट्रेजिक कथा ही। रमुआ का स्वयं कहना है– "मैं एक पागल के रूप में मशहूर हो गया क्योंकि मैं दिग्गजों की पिद्दी आत्मा को कष्ट पहुँचा रहा था।"[22] डॉक्साहब का भी रमुआ के बारे में यही निष्कर्ष है– "तुम अनास्थावान सिनिक होते जा रहे हो। सिनिक और रिव्यूलेशनरी में फर्क है बेटे।"[23] वस्तुतः उपन्यासकार ने यहाँ 'कुछ भी न कर सकने वाला नायक' निर्मित किया हैं वह प्रेम और क्रांति दोनों में असफल है– लेकिन शायद 'नाकाम संदेशवाहक और नाकारा प्रेमी' होना भारतीय नायक की नियति ही है। इसलिए नायकत्व की परिभाषा को खंडित ही होना है।

उपन्यास में कथ्य और शिल्प संबंधी उपन्यासकार के किसी भी प्रकार के रचनात्मक सरोकार का अंतिम परिणाम इस दृष्टि से दुर्भाग्यपूर्ण है कि अंततः वह उपन्यास में 'अपठनीयता' को पैदा करता है। रहस्य के नए शिल्प की उद्‌भावना के बावजूद उपन्यास एक 'यांत्रिक संरचना' में तब्दील होता हुआ नजर आता है जहाँ सब कुछ पूर्व–नियोजित है शायद इसीलिए उस संवादधर्मिता की स्थिति भी नहीं बनने पाती है, बाख्तिन उपन्यास की सफलता के दृष्टिकोण से जिसे सर्वाधिक महत्वूपर्ण मानते हैं। 'ढ़िणमिणाण भैरव रहस्यकाण्ड' शब्द में ही जैसे सारा संवाद सिमटा हुआ लगता है, बाकी तो सारी उपकथाएँ बस इस एक शब्द की

जबर्दस्ती खींचतान सी महसूस होती हैं। सचेत पाठक उपन्यास के प्रारंभ के कुछ पृष्ठों में ही जैसे 'ढिणमिणाण भैरव रहस्य कांड' के रहस्य को समझ लेता है, वह यह जान लेता है कि उपन्यास का अंत निश्चिततः सिनिकल ही है अतः कहानी के अंतिम परिणाम का यह पूर्वानुमान पाठक के आस्वाद को खंडित करता रहता है। यद्यपि उपन्यासकार का पूरा प्रयास यह रहा है कि इस खींचतान को किसी भी तरह कलात्मक बनाया जाय– कथा–भाषा, शैली, नवीन रहस्य–शिल्प; किसी के भी द्वारा, लेकिन फिर भी कभी–कभी उपन्यास एक– स्यूडो थीसिस' की तरह प्रतीत होता है "जिसमें जाति, वर्ग, समाज–व्यवस्था, विचारधाराएँ, संस्कृति सबका विवेचन या विश्लेषण करने की यदि दयनीय नहीं तो दर्दनाक कोशिश है जिसमें वह (लेखक) आइकेरस के विलापवाली स्थिति में पहुँच जाता है।"[24] कह सकते हैं कि उपन्यास की शायद सीमित सफलता और चर्चा का एक कारण 'यही गागर में सागर भरने की आतुर चेष्टा' ही हो, वैसे कथा में लेखकीय हस्तक्षेप की जो परंपरा मनोहर श्याम जोशी ने अपने उपन्यासों में बनाई है, वह भी 'क्याप' में अपने चरम पर पहुँचकर उपन्यास की पठनीयता को बाधित करती है। उपन्यास जैसे लेखकीय वक्तव्य ही है गोया उसके अतिरिक्त उपन्यास में किसी कथातत्व की खोज का परिणाम 'क्याप–फल' ही होगा। वस्तुतः "आपत्ति इस बात पर नहीं होनी चाहिए कि उपन्यास अंततः एक नकारवाद या सिनिकल निष्कर्ष तक ही पहुँचता है। आपत्ति इस बात पर हो सकती है कि यह उपन्यास के घटनाचक्र और यथास्थितियों की क्रमिक रचनात्मक परिणति नहीं है। जैसा कि कहा गया उपन्यास के अंतिम हिस्से में किस्से को जल्दी–जल्दी समेटते हुए इस निष्कर्ष तक पहुँचा दिया गया है जो पूर्व निर्धारित और रिजोल्वॅड है। लेखक एक क्याप निष्कर्ष तक पहुँचना ही चाहता था और उसके लिए एक फ्रेम में कथास्थितियाँ गढ़कर बैठा दी गई हैं। अगर ऐसा नहीं किया गया होता तो उपन्यास का नायक सचमुच एक जटिल पेचिदा और एक वास्तविक ऐतिहासिक त्रासदी, मनुष्य बनकर उभरा होता। इस यांत्रिक संरचना की विडम्बना है कि वह (नायक) न तो पूरी तरह कॉमिकल नजर आता है और न पूरी तरह सिनिकल बल्कि एक पुतले के रूप में लेखक की मनमानी योजनाओं से परिचालित होता रहता है।"[25]

[1] निर्मला जैन, 2000, कथा प्रसंग यथा प्रसंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–17

[2] मैनेजर पाण्डेय, 1989, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, पृ0–248

[3] पूर्व, पृ0–249

[4] पूर्व, पृ0–283

[5] (i) मीनाक्षी मुखर्जी अपनी पुस्तक 'रियलिज्म एंड रियलिटीः द नॉवेल एंड सोसायटी इन इंडिया' में यह बात लिखती हैं (जो कि इस संदर्भ में उपयोगी हो सकती है)– कि अंग्रेजी भाषा और साहित्य तथ ब्रिटिश साम्राज्य के परिणामस्वरूप विकसित यह साहित्य रूप– उपन्यास ठीक वैसे ही भारत में नहीं आया है जैसे रेल और क्रिकेट आये।

(ii) भालचंद्र नेमाड़े अपने लेख– 'उपन्यास की सैद्धांतिकीः कुछ विचार सूत्र' में नई पीढ़ी को इसी 'देशीयता' का भान कराते हुये लिखते हैं कि– "मराठी उपन्यास मराठी उपन्यासकारों की निर्मिति है और मराठी उपन्यासकार मराठी समाज की निर्मिति।..... इस बात को मानना होगा कि संस्कृति कोई कृत्रिम तापघर न होकर एक भूमिनिष्ठ प्रक्रिया है और साहित्य और सैद्धांतिक प्रणाली न होकर एक जीवित व्यवहार है।" (आलोचना त्रैमासिक, सहस्त्राब्दि अंक सात–आठ, अक्टूबर–दिसंबर 2001– जनवरी–मार्च 2002, पृ0–113)

[6] उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में भारत की अनेक भाषाओं में विशेष रूप से बंगला, मराठी, गुजराती और हिंदी में संस्कृत की कथाओं और आख्यायिकाओं के खूब अनुवाद हुये। कथासरित्सागर,, पंचतंत्र, हितोपदेश, बेताल पचीसी, सिंहासन बतीसी और जातक कथाओं को अधिकांश भाषाओं में अनुदित किया गया। लोककथाओं की ओर भी ध्यान दिया गया। उर्दू के कथाकारों ने जहाँ फारसी और अरबी के दास्तानों और किस्सों–आख्यानों को अपनाया वहीं अन्य भाषाओं के कथाकारों ने भी इन्हें अपनाया।

[7] परमानंद श्रीवास्तव, 1995, उपन्यास का पुनर्जन्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0–7–8

[8] कसौटी आलोचना त्रैमासिक–4, जनवरी–मार्च 2000, पृ0–78–80 (लेख– साहित्य के प्रासंगिक प्रश्न, निर्मल वर्मा)

[9] आलोचना त्रैमासिक सहस्त्राब्दि अंक, छह, जुलाई–सितंबर, 2001, पृ0–97 (लेख–यथार्थवाद पर भरोसा किये बगैर कथा का यथार्थ, परमानंद श्री वास्तव)

[10] मनोहर श्याम जोशी, 1998, कुरु कुरु स्वाहा, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, पृ0–6

[11] उपन्यासकार का यह 'विश्वास' ही उसके उपन्यासों में तथाकथित जादुई यथार्थवाद को पैदा करता है लेकिन गौरतलब है कि उपन्यासकार अपनी रचनाओं में इस प्रकार के किसी भी किस्म के 'नये यथार्थवाद' को पैदा करने के प्रति लापरवाह ही दिखता है गोकि यह आलोचकों की पैदाइश हो; क्यों कि उसका स्वयं का कहना है– "जादुई यथार्थवाद का नुस्खा कौन सुझा रहा है ? खैर वह जो भी है, बहुत पहले कहीं और हो चुके आंदोलन को आयात करने की हमारी पुरानी परंपरा का ही निर्वाह कर रहा है।" (कसौटी–5, पृ0–19)

[12] निर्मला जैन, कथा प्रसंग यथा प्रसंग, पृ0–72

[13] कसौटी– आलोचना त्रैमासिक–4, जनवरी–मार्च 2000, पृ0–81 (लेख– साहित्य के प्रासंगिक प्रश्न, निर्मल वर्मा)

[14] अज्ञेय, (सं.), 1986, सामाजिक यथार्थ और कथा भाषा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, पृ0–37

[15] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–17–18

[16] पूर्व, पृ0–106

[17] पूर्व, पृ0–103

[18] मनोहर श्याम जोशी, कसप, पृ0–11

[19] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–7

[20] आलोचना त्रैमासिक, सहस्त्राब्दी अंक–6, जुलाई–सितंबर 2001, पृ0–92 (लेख– क्याप अर्थात् 'कुछ भी नहीं हुआ', विजयमोहन सिंह)

[21] पूर्व, पृ0–94

[22] मनोहर श्याम जोशी, क्याप, पृ0–148

[23] पूर्व, पृ0–110

[24] आलोचना त्रैमासिक, सहस्त्राब्दी अंक–6, जुलाई–सितंबर 2001, पृ0–93 (लेख– क्याप अर्थात् 'कुछ भी नहीं हुआ', विजयमोहन सिंह)

[25] पूर्व, पृ0–96

संदर्भ–ग्रंथ–सूची : ग्रंथानुक्रम

(क) आधार ग्रंथ

(ख) सहायक ग्रंथ

(ग) अन्य (अंग्रेजी) सहायक ग्रंथ

(घ) पत्रिकायें

ग्रंथानुक्रम

(क) आधार ग्रंथ–

मनोहर श्याम जोशी–

(i) कुरु कुरु स्वाहा, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, प. सं.–2001

(ii) कसप, राजकमल पेपरबैक्स, नई दिल्ली, द्वि. सं.–2001

(iii) हरिया हरक्यूलीज की हैरानी, किताबघर, नई दिल्ली, इ. सं.–2001

(iv) हमजाद, किताबघर, नई दिल्ली, प. सं.–1996

(v) क्याप, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प. सं.–2001

(ख) सहायक ग्रंथ–

आयोध्या सिंह, समाजवादः भारतीय जनता का संघर्ष, अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीव्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, सं.–2001

अज्ञेय, (i) सदानीरा, भाग–1, नेशनल पब्लिशिंग आउस, नई दिल्ली, सं.–1986

(ii) समाजिक यथार्थ और कथा भाषा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, सं. –1986

आल्नेर जीस, कला के वैचारिक और सौंदर्यात्मक पहलू, रादुगा प्रकाशन, मास्को/पी.पु.हा. (प्रा.) लि., नई दिल्ली, सं.–1985

एजाज अहमद, आज के जमाने में मार्क्सवाद का महत्व, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, प्र. स. –1996

एरिक फ्रॉम/अनु. युगांक धीर, प्रेम का वास्तविक अर्थ और सिद्धांत, संवाद प्रकाशन मुबंई/मेरठ, प्र.स.–2002

ए.एल. बाशम, अद्भुत भारत, शिवलाल अग्रवाल एंड कम्पनी, आगरा, सं.–1997

ओम प्रकाश गाबा, राजनीतिक सिद्धांत की रूपरेखा, मयूर पेपर बैक्स, नोएडा, सं.–2002

दीपक कुमार/अनु. चंद्रभूषण, विज्ञान और भारत में अंग्रेजी राज, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, सं. –1998

नामवर सिंह (सं.), शमशेर बहादुर सिंह, प्रतिनिधि कवितायें, राकमल पेपर बैक्स, नई दिल्ली, तृ. सं.–1998

निर्मला जैन, कथा प्रसंग यथा प्रसंग, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.–2000

नेमिचंद्र जैन, अधूरे साक्षात्कार, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, द्वि. सं.–1989

परमानंद श्रीवास्तव, उपन्यास का पुनर्जन्म, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं.–1995

पुरुषोत्तम अग्रवाल, (i) संस्कृति वर्चस्व और प्रतिरोध, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, प्र. सं.–1995

(ii) तीसरा रूख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.–1996

(iii) विचार का अनंत, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्र. सं.–2000

मधुरेश, हिंदी उपन्यास का विकास, सुमित प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वि. सं.–2001

मैनेजर पाण्डेय, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा साहित्य अकादमी, चंडीगढ़, सं. –1989

मोहन थपलियाल (सं.), बेर्टोल्ट ब्रेष्टः इकहत्तर कवितायें और तीस छोटी कहानियाँ, परिकल्पना प्रकाशन, लखनऊ, द्वि. सं.–1998

रजनी पाम दत्त, आज का भारत, दि मैकमिलन कंपनी आफ इंडिया लिमिटेड, दिल्ली, सं. –1977

बिपिन चंद्र (i) आधुनिक भारत में विचारधारा और राजनीति, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, सं.–1997

(ii) भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, सं.–1998

(iii) समकालीन भारत, अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड, दिल्ली, सं.–2001

हजारी प्रसाद द्विवेदी, कबीर, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, स. सं.–1999

हरिश्चंद्र वर्मा, (सं.) मध्यकालीन भारत, भाग–2 (1540–1761), हिंदी माध्यम कार्यान्वन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, द्वि. सं.–2000

अन्य (अंग्रेजी) सहायक ग्रंथ

इलहम दिलमान, लव एंड सेप्रेटनेस, बासिल ब्लैकवेल, ऑक्सफोर्ड एंड न्यूयार्क, सं.–1987

एंड्रयू हेवुड, पॉलिटिक्स, पालग्रेव, न्यूयार्क, द्वि. सं.– 1993

एडवर्ड डब्ल्यू. सईद, (i) ओरियंटलिज्म, रोटलीज एंड केगनपाल लि., लंदन, सं.–1978

(ii) कल्चर एंड इम्पीरियलिज्म, चारो एंड विंडस, सं.–1993

एस. राधाकृष्णन,रिकवरी आफ फेथ, ओरियंट पेपर बैक्स, दिल्ली, सं.–1992

कार्ल मार्क्स एंड एफ. एंगेल्स ऑन रिलीजन, फारेन लैंग्वेजेज पब्लिशिंग हाउस, मास्को सेकंड इम्प्रेसन, सं.–1955

जे. सियटन फेवर एंड विलियम होर्ज, (सं.), रिलीजन इन फिलॉस्फिकल एंड कल्चरल पर्सपेक्टिव, वैन नोस्टैंड रेनहोल्ड कंपनी (न्यूयार्क/लंदन/टोरंटो/मेलबोर्न) एफलिरोटेड ईस्ट प्रेस प्राइवेट लि., नई दिल्ली, सं.–1971

ज्याँ पॉल सार्त्र, बीइंग एंड नथिंगनेस, वाशिंगटन स्क्वेयर प्रेस, यू.एस.ए., सं.–1966

नार्मन ओ'ब्राउन, लाइफ अगेंस्ट डेथ, वेस्लेयन यूनिवर्सिटी प्रेस, कनेक्टिकट, सं.–1970

पीटर चाइल्ड्स/पेटिक विलियम्स, ऐन इंट्रोडेक्शन टु पोस्ट कोलोनियल थ्योरी, प्रेंटिस हाल, लंदन, सं–1997

सुधीर ककर/जॉन एम. रास, टेल्स ऑव लव, सेक्स एंड डेंजर, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, सं.–1992

सी.बी. टिंकर एंड एच. एफ. लोरी (सं.), द पोयम्स ऑफ मैथ्यू अर्नाल्ड, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, सं.–1963

(घ) पत्रिकायें–

आलोचना, अक्टूबर–दिसम्बर, 1988

कसौटी आलोचना त्रैमासिक–4, जनवरी–मार्च, 2000

कसौटी–5

आलोचना त्रैमासिक सहस्त्राब्दी अंक छह, जुलाई–सितम्बर, 2001

आलोचना त्रैमासिक सहस्त्राब्दी अंक सात–आठ, अक्टूबर–दिसबर, 2001, जनवरी–मार्च, 2002

हंस, मार्च, 2002

वर्तमान साहित्य, शताब्दी आलोचना पर एकाग्र–2, जून, 2002

कथादेश, फरवरी, 2003

Jawaharlal Nehru University Library